IRIS

इरिइस

मूल्य ।)

राय बहादुर बाबू बङ्किमचन्द्र चट्टोपाध्याय कृत

इन्दिरा

का

म० कु० बाबू रामदीन सिंह के आज्ञानुसार

पण्डित किशोरीलाल गोस्वामी कृत

हिन्दी अनुवाद

राय साहिब रामरणविजय सिंह द्वारा प्रकाशित

पटना--- ... पुर

बाबू रामप्रसाद सिं... त

१९१८

दूसरी बार १५००　　　　　मूल्य ॥।)

पांचवीं वार की भूमिका।

—:::*:::—

इंदिरा क्यों बड़ी हुई ?

इन्दिरा छोटी थी, सो बड़ी हुई। इसे यदि कोई अपराध में गिनें तो उन से इन्दिरा विनयपूर्वक निवेदन कर सकती है कि "योंही बहुतेरे छोटे बड़े हुआ करते हैं। भगवान् की इच्छासे नित्य ही जो छोटे हैं वे बड़े हुआ करते हैं। और राजा का भी यही काम देखने में आता है कि वह छोटे को बड़ा और बड़े का छोटा किया करता है। समाज को भी देखते हैं कि छोटे को बड़ा बना कर बड़े को छोटा करता है। तो फिर मैं भी जिस के अधीन हूं, उस के जी में आया तो—छोटी देख बड़ी बना दिया। बस इस बात की अब कैफ़ियत क्या दूं ?"

तब इस में दोष की बात यही है कि बड़े होने ही से दाम बढ़ जाता है। देखो ! राजा, या समाज की कृपा से जो बड़े होते हैं वे बड़े होने पर भी अपना अपना मूल्य बढ़ा लेते हैं। यहां तक कि जो पुलिस के जमादार हैं, वे एक ही रुपये घूस ले कर खुश हो जाते हैं, पर वे ही दारोगा होते ही दो रुपये मांगने लगते हैं; क्योंकि बड़े होने ही से उन का मूल्य भी बढ़ गया है।

तब बेचारी ग़रीब इन्दिरा भी यह कह सकती है कि जब मैं भी एकाएक बड़ी हो गई, तो फिर मेरा मूल्य क्यों न बढ़ेगा ?

इन्दिरा बड़ी होने पर अच्छी हुई, या बुरी; यही जगह बड़े सन्देह की है। इस का विचार करना तो आवश्यक है। क्योंकि जो छोटा है, उस का छोटा ही रहना अच्छा है; क्योंकि यह देखा जाता है कि छोटे लोग बड़े होने पर कभी भले नहीं हुए। परन्तु इस तर्क को बहुतेरे छोटे लोग कभी भी स्वीकार नहीं करेंगे। तब फिर इन्दिरा इस तर्क को क्यों स्वीकार करे ?

जान पड़ता है कि पाठकगण इन्दिरा के आकार बढ़ने का कारण जानने की इच्छा रखते होंगे। यदि इस कारण को समझाने लगें, तो अपनी पुस्तक की आप ही समालोचना करनी पड़ेगी; किन्तु ऐसे अनुचित काम के करने को हमारी इच्छा नहीं है। तब, जो विचारशील हैं, वे छोटी इन्दिरा को मन लगा कर पढ़ने ही से भली भांति जान लेंगे कि उस (छोटी इन्दिरा) में क्या क्या दोष थे, और अब किस प्रकार से उन दोषों का संशोधन किया गया है। सच पूछिये तो पुराने "इन्दिरा" नाम से यह एक नया ग्रन्थ है। तो फिर नये ग्रन्थ के बनाने का सभी को अधिकार है. बस, ग्रन्थकार की इतनी ही सफ़ाई बहुत है।

——o:*:o——

इन्दिरा।

प्रथम परिच्छेद।

मैं ससुरार जाऊंगी !

बहुत दिन पीछे मैं ससुरार जाती थी। मेरा उन्नीसवां वर्ष बीतता था, तथापि उस समय तक ससुर के घर का मुंह नहीं देखा था। इस का कारण यह है कि मेरे पिता धनी और ससुर दरिद्र थे। विवाहके कुछ ही दिन पीछे ससुरने मुझे ले जानेके लिये आदमी भेजा था, किन्तु पिता ने नहीं भेजा; कहा कि, "समधी जी से कहना कि पहिले अपने लड़के को द्रव्य उपार्जन करना सिखावें पीछे पुतोहू को बुलवावें—अभी हमारी बेटी को ले जा कर खिलावेंगे क्या ?" यह सुन कर मेरे पति के मन में बड़ी ग्लानि हुई—उस समय उन का वयस बीस वर्ष का था, उन्हों ने प्रतिज्ञा की कि, "स्वयं अर्थोपार्जन कर के परिवार का पालन करूंगा", यही सोच कर उन्होंने पश्चिम की ओर यात्रा की। उस समय रेल नहीं थी--और पश्चिम का पथ बहुत दुर्गम था। वे बिना धन और बिनासहायता के पैदल ही उस रास्ते को पूरा कर के पंजाब में जा पहुंचे। जो इतना कर सकता है, वह धनोपार्जन भी कर सकता है; इस न्याय से मेरे स्वामी अर्थ उपार्जन करने

और घर पर रुपये भेजने लगे, किन्तु सात आठ वर्ष तक न घर आये, न उन्हों ने मेरी कोई ख़बर ली । मारे क्रोध के मेरा शरीर थर्राने लगता । कितने रुपये चाहिये ? अपने माता पिता के ऊपर मुझे बड़ी झुंझलाहट आती—क्योंकि उन्हीं निगोड़ों ने रुपये उपार्जन की बात उठाई थी । रुपया क्या मेरे सुख की अपेक्षा भी बढ़ कर है ? मेरे बाप के घर बहुत रुपये थे—मैं रुपये लेकर पानी में "कत्ती" खेलती और मन ही मन कहती कि एक दिन रुपयों को बिछा, सो कर देखूंगी कि इस में कौन सा सुख है ? एक दिन मैंने मा से कहा कि, "मा ! मैं रुपये बिछा कर सोऊंगी" यह सुन मा ने कहा, "पगली कहीं की !" मा ने मेरी बातें समझीं और क्या छल बल किया सो मैं कह नहीं सकती, किन्तु जिस समय का इतिहास मैं प्रारम्भ करती हूं उस के कुछ दिन पहिले मेरे पति घर आये । हल्ला मचा कि वे कमिसेरियेट (कमिसेरियेटहीन ?) का काम करके अतुल ऐश्वर्य के अधिपति हो कर आये हैं । मेरे ससुर ने मेरे पिता जी को लिख भेजा कि, "आप के आशीर्वाद से उपेन्द्र (मेरे स्वामी का नाम उपेन्द्र है—उन का नाम मैंने लिया, इस से प्राचीनागण मुझे क्षमा करें; क्योंकि आजकल की "नई" आईन के अनुसार उन्हें 'मेरे उपेन्द्र' कह कर पुकारना उचित है)—बहू के प्रतिपालन करने में समर्थ हुआ है । पालकी कहार भेजे जाते हैं, बहू को यहां भेज दीजियेगा । नहीं तो आज्ञा दीजिये कि पुत्र के दूसरे विवाह का प्रबन्ध करें ।"

पिता ने देखा कि ये नये धनी (अमीर) हैं । पालकी के

भीतर चारों ओर कमखाब मढ़ी है, ऊपर चांदी की बीट (कोर) लगी है और बांसों के छोर में चांदी के बने हुए घड़ियाल (मगर) के मुख लगे हुए हैं। दासी जो आई है वह गरद (रेशमी वस्त्र) पहिर कर आई है, उस के गले में बड़े २ सोने के दाने पड़े हैं और पालकी के संग काली दाढ़ीवाले चार भोजपुरिये आये हैं।

मेरे पिता हरमोहन दत्त खान्दानी अमीर हैं। सो वे हँस कर बोले, "बेटी इंदिरा! अब तुम्हें नहीं रख सकते। अभी जाओ, फिर शीघ्र बुला लेंगे। देखो, अंगुरी फूल कर केले के पेड़ सी हो जाय' सा देख कर हंसना मत (अर्थात् हीन अवस्था से उच्च अवस्था के पानेवाले को देख कर हँसो मत)।"

मनही मन मैंने पिता जी की बातों का उत्तर दिया। कहा कि, 'मेरा प्राण मानों अंगुरी फूल कर केले का पेड़ हुआ; सो तुम इस बात को जान कर मत हंसो।'

मेरी छोटी बहिन कामिनी कदाचित् उस बात को समझ गई थी-बोली, "जीजी (दीदी)! अब आओगी कब?" यह सुन मैं ने उस के गालों को दबा कर पकड़ लिया।

कामिनी ने कहा,-"जीजी! ससुरार कैसी होती है, सो कुछ जानती हो न?"

मैं ने कहा,—"जानती हू। वह नन्दन बन है, वहां पर रति पति (मदन) पारिजात फूल के बान मार कर लोगों का जन्म सफल करता है, वहां पांव देते ही स्त्री जाति अप्सरा हो जाती है और पुरुष भेंड़े बन जाते हैं। वहां नित्य कोयल कुहुकती है, जाड़े में भी दक्षिणी पवन चलती है और अमावास्या का भी पूर्ण चन्द्र का उदय होता है।"

कामिनी ने हँसकर कहा,—"मौत है, और क्या?"

द्वितीय परिच्छेद।

मैं ससुरार चली!

बहिन के इस आशीर्वाद को लेकर मैं ससुरार जाती थी। मेरी ससुरार मनोहरपुर और नैहर (पित्रालय) महेशपुर में है। इन दोनों ग्रामों के बीच में दस कोस का अन्तर है। इस लिये मैं ने प्रातःकाल ही भोजन कर के यात्रा की थी, क्योंकि पहुंचते पहुंचते पांच सात घड़ी रात बीतेगी, सो मैं जानती थी।

यह सोच कर मेरी आंखों में ज़रा ज़रा पानी भर आया—रात को मैं भलीभांति न देख सकूंगी कि वे कैसे हैं और रात को वे भी अच्छी तरह न देख सकेंगे कि, मैं कैसी हूं? मेरी मा ने बड़े जतन से मेरी चोटी बांध दी है सो दस कोस जाते जाते जूड़ा खुल जायगा और बाल सारे छितरा जायंगे। पालकी के भीतर पसीने पसीने हो मेरी सूरत बिगड़ जायगी, प्यास के मारे ओठों पर की पान की लाली उड़ जायगी, और थकावट से मेरे शरीर का रंग फीका पड़ जायगा। तुम लोग हंसती हो? तुम्हें मेरे सिर की सौगंद है, हंसो मत; मैं चढ़ी जवानी में पहिले पहिल ससुरार जाती थी।

मार्ग में "कालादीघी" नाम की एक बावली है, उस का जल प्रायः आध कोस तक फैला है, भिंड उसका पहाड़ी की तरह ऊंचा है, उसी के भीतर हो कर राह है और चारों ओर बट के वृक्ष लगे हैं। उन की छाया शीतल, दीर्घिका का जल नील मेघ के सदृश और दृश्य अति मनोहर है। वहां बहुत ही कम मनुष्य

आते जाते हैं। घाट के रास्ते पर केवल एक दूकान भर है और समीप जो ग्राम है, उस का नाम भी "कालादीघी" है।

उस बापी पर लोग अकेले जाने में भय खाते, डांकुओं के भय से वहां पर बिना दल बांधे लोग न जाते, इसी लिये लोग उसे "डांकुओं को कालादीघी" और वहां के दुकानदार को डांकुओं का सहायक कहते थे। पर मुझे इन सबों का भय न था, क्योंकि मेरे संग अनेक आदमी थे—जिन में सोलह कहार, चार प्यादे और दूसरे कई लोग थे।

जब हमलोग वहां पहुंचे, उस समय ढाई पहर दिन बीता था, बाहकों ने कहा कि, "हमलोग बिना कुछ जलपान किये, अब नहीं चल सकते," प्यादों ने मना किया और कहा कि,— "यह अच्छा स्थान नहीं है" इस पर कहारों ने उत्तर दिया कि,—"हमलोग इतने आदमी हैं, फिर हमलोगों को भय क्या है?" मेरे साथ के आदमियों में से तब तक किसी ने कुछ भी खाया नहीं था, इस लिये अन्त में सबों ने बाहकों की बात सकारी।

दीघी के घाट पर बट की छाया में मेरी पालकी रक्खी गई मैं जल भुन गई—क्योंकि कहां तो मैं देवता पितर मना रही थी कि जल्दी पहुंचूं और कहां निगोड़े कहार पालकी रख बैठ गये और ठेहुना उघार के मैले अंगोछे को घुमा २ कर हवा खाने लगे! किन्तु छिः! स्त्री जाति अपना ही स्वार्थ देखती है! देखो! मैं जाती हूं कंधे पर चढ़ी हुई, और ये बेचारे मुझे कंधे पर ढोये जाते हैं; मैं जाती हूं चढ़ी जवानी में प्राणपति से मिलने और ये

सब जाते हैं ख़ाली पेट एक मुट्ठो भात की खोज में; सो ये बेचारे ज़रा सा मैले अंगोछे को घुमा कर हवा खाने लगे, यह देख मुझे क्रोध हुआ! धिक्कार है, इस चढ़ी जवानी को!

यही सोचते सोचते मैंने क्षण भर के पीछे अनुभव कर के जाना कि साथ के लोग कुछ दूर चले गये हैं। तब मैं साहस से थोड़ा सा द्वार खोलकर बाक्सी देखने लगी। मैंने देखा कि सब वाहक दूकान के सामने एक बटवृक्ष के नीचे बैठे हुए जलपान कर रहे हैं। वह स्थान मुझ से प्रायः डेढ़ बीघा दूर था। मैंने देखा कि सम्मुख अति निबिड़ मेघ की नाईं विशाल दीघी फैली हुई है, उस के चारों ओर पर्वतश्रेणीतुल्य ऊंचे और सुकोमल हरी हरी घासों के आवरण से शोभायमान पहाड़ हैं; पहाड़ और जल के बीच-वाली विस्तृतभूमि में बटवृक्ष की श्रेणी है; पहाड़ पर अनेक गौ बछड़े चरते और जल के ऊपर जलचर पक्षीगण क्रीड़ा करते हैं। मन्द मन्द मारुत के मृदु मृदु हिलोरे से स्फटिक भंग होते हैं। छोटी छोटी लहरों के धक्के से कभी कभी कमल के फूल, पत्ते और सेवार हिलते हैं। मैंने देखा कि मेरे दरवान लोग जल में उतर कर स्नान करते हैं—उन लोगों के अङ्ग हिलाने से ठोकर खा कर श्यामल जल में श्वेत मोती के हार बिखरे जाते हैं।

मैंने आकाश की ओर निहार कर देखा कि कैसी सुन्दर नीलिमा है! कैसा सुन्दर श्वेत मेघ समूहों का परस्पर मूर्ति वैचित्र्य है! और कैसी सुन्दर आकाशमण्डल में उड़नेवाले छोटे छोटे पक्षियों की उस नीलिमा में फैली हुई कृष्णबिन्दु समूहों की शोभा है! मैं ने मन ही मन कहा कि क्या ऐसी कोई विद्या

नहीं है कि जिस से मनुष्य पक्षी हो सके ? क्योंकि यदि पखेरू हो सकती तो मैं अभी उड़कर, जिसे बहुत दिनों से चाहती हूं, उस के पास पहुंच जाती !

फिर मैं ने सरोवर की ओर निहार कर देखा—इस वार मैं कुछ भयभीत हुई। क्योंकि मैं ने देखा कि वाहकों को छोड़ कर और मेरे सङ्ग के सभी आदमी एकदम स्नान के लिये जल में उतर गये हैं। मेरे संग दो स्त्रियाँ थीं, उन में एक ससुराल की और दूसरी पीहर (नैहर) की; सो वे दोनों भी जल में उतर गई थीं। यह देख मेरे मन में कुछ भय हुआ; क्योंकि समीप कोई नहीं;—स्थान बुरा है, लोगों ने अच्छा नहीं किया। पर क्या करती ? मैं कुलवधू होने से किसी को पुकार भी न सकी।

इसी समय पालकी की दूसरी ओर एक शब्द हुआ। मानों बटवृक्ष की शाखा के ऊपर से कोई भारी वस्तु गिरी। तब मैं ने उस ओर का थोड़ा सा किवाड़ खोला। खोलते ही एक काला सा विकटाकार मनुष्य देखा। यह देखते ही मारे भय के मैं ने उधरवाले द्वार को बन्द कर लिया, पर तभी समझ लिया कि इस समय द्वार का खुला रखना ही अच्छा है। पर फिर से मेरे द्वार खोलने के पहले ही और एक आदमी पेड़ के ऊपर से कूद पड़ा। देखते देखते और एक जन, फिर एक जन, इसी तरह चार जने प्रायः एक साथ ही वृक्ष पर से कूद पालकी कन्धे पर उठा कर उर्द्ध्वश्वास से भागे। यह देखते ही मेरे दरवान लोग "कौन है रे ! कौन है रे !" चिल्लाते हुए जल में से निकल कर दौड़े।

तब समझो कि मैं डांकुओं के हाथों पड़ी हूं। तब फिर लज्जा से क्या काम था? बस चट मैं ने पालकी के दोनों द्वार खोल दिये। मैं ने कूद कर भागने की इच्छा की, परन्तु देखा कि मेरे संग के सबलोग अत्यन्त कोलाहल करते हुए पालकी के पीछे दौड़े आते हैं। इस लिये मुझे कुछ भरोसा हुआ, किन्तु शीघ्र ही वह भरोसा मिट गया। उस समय पासवाले अन्यान्य वृक्षों पर से कूदते हुए असंख्य दस्यु दिखाई देने लगे। मैं कह आई हूं कि जल के किनारे २ वटवृक्ष की श्रेणी है। उन्हीं वृक्षों के नीचे होकर डांकू लोग पालकी लिये जाते थे। उन्हीं वृक्षों पर से मनुष्य कूदने लगे। उन लोगों में से किसी के हाथ में बांस की लाठी और किसी के हाथ में पेड़ की डाल थी।

जनसंख्या अधिक देख कर मेरे संग के लोग पीछे छुटने लगे। तब मैं ने नितान्त हताश हो कर मन में सोचा कि कूद पड़ूं। किन्तु बाहक लोग इतनी शीघ्रता से जाते थे कि जिस से पालकी पर से कूदने में चोट लगने की संभावना थी। विशेषतः एक डांकू मुझे लाठी दिखा कर बोला कि, "यदि उतरेगी तो सिर तोड़ दूंगा।" बस मैं सन्नाटा मारे बैठी रही।

मैं देखने लगी कि एक दरवान ने आगे बढ़ कर पालकी आ पकड़ी तब एक दस्यु ने उस पर लाठी की चोट की जिस से वह अचेत हो कर भूमि में गिर पड़ा। मैं ने फिर उसे उठते न देखा। जान पड़ता है कि फिर वह उठाही नहीं।

यह देख मेरे शेष रक्षक भी रुक गये और बाहक डांकू लोग मुझे निर्विघ्नता से ले चले। एक पहर रात तक उन लोगों ने

इसी तरह ढोते ढोते अन्त में पालकी रक्खी। देखा कि जहां डांकुओं ने पालकी रक्खी है वह स्थान सघनवन और अन्धकारमय है। डांकुओं ने एक मसाल बाली और तब मुझ से कहा कि,—"तुम्हारे पास जो कुछ हो, उसे दे दो ; नहीं तो जान से मार डालेंगे।" यह सुन चट मैं ने अपने अलंकार, वस्त्र, आदि सब दे दिये, अंग पर से भी सब गहने खोल कर दे दिये; केवल हाथ के कड़े नहीं उतार दिये, सो उन लोगों ने स्वयं उतार लिये। उन लोगों ने एक मलिन और जीर्ण वस्त्र दिया, उसे पहिर कर अपनी पहिरी हुई बहुमूल्य साड़ी उतार दी। डांकुओं ने मेरा सर्वस्व ले, पालकी तोड़, उस की चांदी उखाड़ ली। अन्त में आग लगाकर टूटी हुई पालकी को जलाके डकैती का चिन्ह भी मिटा दिया।

तब वे लोग चले—और उसी निबिड़ बन और अंधेरी रात में मुझे बनैले पशुओं के मुख में समर्पण कर चले। यह देख मैं रोने लगी। मैं ने कहा,—"तुम लोगों के पैरों पड़ती हूं, मुझे सङ्ग ले चलो।" हा! उस दुर्दिन में डांकू का सङ्ग भी मुझे वाञ्छनीय हुआ।

एक बूढ़ा डाकू करुणापूर्वक बोला—"बच्चा! ऐसी गोरी स्त्री को हम लोग कहां ले जायं? इस डकैती की अभी शोहरत होगी; तो तुम्हारे समान सुन्दरी युवती हमारे साथ देखते ही लोग हमलोगों को पकड़ेंगे।"

एक युवा डाकू बोला,—"मैं इसे अवश्य ले जाऊंगा चाहे जेल भी जाऊं तो जाऊं पर इसे छोड़ नहीं सकता।" इस के

अनंतर वह दुष्ट और जो कुछ बोला, उसे लिख नहीं सकती। और अब वे बातें मन में भी नहीं ला सकती। वही बुड्ढा डांकू उस दल का सर्दार था, उस ने उस युवा को लाठी दिखाकर कहा कि,—"इसी लाठी से तेरा सिर तोड़ कर यहां रख जाऊंगा, ये सब पाप क्या हम लोगों से सहे जायंगे?" फिर वे लोग चले गये।

तीसरा परिच्छेद।

ससुरार जाने का सुख !

क्या ऐसा भी कभी होता है? इतनी विपद और इतना दुःख भी कभी किसी को हुआ है? कहां तो पहिले पहिल स्वामी के दर्शनों को जाती थी—सारे अंग में रत्नालंकार पहिर, कितने चाव से बालों का संवार, जूड़ा बांध, साध से लगाये हुए पान चाभ अछूते अधरोष्ठों को लाल लाल कर, सुगंध से इस पवित्र और चढ़ी जवानी से फूली हुई देह को सुगन्धित कर के, इस उन्नीसवें वर्ष में पहिले पहिल प्राणपति से मिलने जाती थी—क्या कह कर इस अमूल्यरत्न को उन के चरणारविंद में उपहार दूंगी; यही सोचती २ जाती थी—पर हाय! एकाएक उस पर यह कैसा वज्राघात हुआ! डांकू सारे गहने छीन ले गये,—ले जायं; उन्हीं ने जीर्ण मलिन और दुर्गन्धवाला वस्त्र मुझे पहराया,—पहरावें; वे मुझे शेर भालू के मुख में डाल गये—डाल जायं; भूख प्यास के मारे प्राण जाता है,—जाय; मैं जीना नहीं चाहती; अभी प्राण जाय; सोई अच्छा;—किन्तु यदि प्राण न निकले, यदि मैं बच

जाऊं तो फिर जाऊंगी कहां? फिर तो उन का दर्शन न हुआ—कदाचित् मा बाप को भी अब न देख सकूंगी। हाय! रोने से भी रुलाई नहीं चुकती।

यही समझ कर निश्चय किया था कि अब न रोऊंगी। आंखों के आंसू किसी तरह नहीं थम्हते थे, तौभी उन के रोकने की चेष्टा करती थी—इतने हो में कुछ दूर पर न जाने कैसी एक भयानक गर्जना हुई, मैं ने समझा कि बाघ होगा। यह समझ कर मन में कुछ प्रसन्नता हुई, क्योंकि यदि बाघ खा ले तो मेरी सारी जलन दूर हो। बाघ मेरे हाड़ गोड़ अलग करके लोहू चूस कर मुझे खायगा,--सोचा कि यह भी मैं सह लूंगी; क्योंकि केवल शारीरिक कष्ट के अतिरिक्त और क्या होगा! बस मरने पाऊंगी, यही मेरे लिये परम सुख होगा, इस लिये रोना छोड़, कुछ प्रसन्न हो स्थिर हो बैठी और बाघ की बाट जोहने लगी। अब जब पत्ते की खड़खड़ाहट सुन पड़ती तब तब मैं यही समझती थी कि यह सब दुःखों को दूर करने और प्राणों को शीतल करनेवाला बाघ आता है। पर बहुत रात हुई, तौभी बाघ न आया। तब मैं हताश होगई। फिर मैंने सोचा कि जहां पर घना जङ्गल है, वहां पर सांप रहते होंगे। यह सोच सांप के ऊपर लात रखने की आशा से मैं उस जंगल के भीतर घुसी और उस के भीतर इधर उधर बहुत घूमी किन्तु हाय! मनुष्य को देख कर सभी भाग जाते हैं। वन में मैं ने कितने ही 'सर सर' 'पट पट' शब्द सुने, किन्तु सांप के ऊपर तो पैर न पड़ा! मेरे पैरों में कितने

ही कांटे गड़े; बहुतेरी बिछुटी * लगीं किन्तु ऐं! सांप ने तो काटा नहीं? तब हताश हो कर मैं लौट आई। भूख प्यास के मारे क्लांत हो गई थी--इसलिये अधिक घूम फिर न सकी और एक स्वच्छ स्थान देख कर बैठ गई। सहसा मेरे सामने एक भालू आ खड़ा हुआ; सोचा कि मैं इसी के हाथों मरूंगी—सो उसे खेद कर मारने दौड़ी। किन्तु हाय! वह बेचारा मुझ से कुछ भी न बोला और वह जाकर एक वृक्ष पर चढ़ गया। वृक्ष के ऊपर से थोड़ी देर पीछे 'भन्न भन्न' कर के हज़ारों मक्खियों का शब्द हुआ। मैंने समझा कि इस वृक्ष पर मधुमक्खियां हैं, भालू भी यह बात जानता होगा; इसी से मधु लूटने के लोभ में पड़ कर उस ने मुझे छोड़ दिया।

थोड़ी रात रहे मुझे ज़रा नींद आ गई, बैठी बैठी पेड़ से उठँग कर मैं सो गई।

—*:*—

चौथा परिच्छेद।

अब कहां जाऊं?

जब मेरी नीन्द टूटी, तब काक कोयल बोल रहे थे, और बांस के पत्तों में से टुकड़े टुकड़े होकर आती हुई सूर्य की किरण पृथ्वी को मणि मुक्ताओं से सजा रही थी। उजाले में पहिले ही देखा कि मेरे हाथ में कुछ नहीं है, डांकू लोग मेरे हाथ के कड़े आदि सब गहने छीन ले जा कर मुझे बिधवा सी बना गये हैं।

* लता विशेष, वृश्चिकाली लता।

बाएं हाथ में एक टुकड़ा लोहा भर है, किन्तु दाहिने हाथ में कुछ नहीं। तब रोती रोती एक लता तोड़ कर मैं ने दाहिने हाथ में बांधी।

इस के अनन्तर चारों ओर देखती देखती मैं ने देखा कि जहां पर मैं बैठी हूं, वहां के अनेक वृक्षों की डालियां कटी हैं, कोई २ पेड़ जड़ मूल से कटे हैं, केवल उन की जड़ भर बाकी है। मैं ने सोचा कि यहां पर लकड़िहारे आया करते हैं, तो ग्राम में जाने का पथ है। दिन का उंजाला देख कर फिर मेरी जीने की इच्छा हुई—फिर मन में आशा का उदय हुआ, क्योंकि छब्बीस वर्ष से अधिक तो मेरा बयस थाही नहीं! तब खोज लगाते लगाते मैं ने एक अति अस्पष्ट पथ की पगदंडी देखी, उसी को धर कर मैं चल खड़ी हुई। जाते जाते उस पथ की रेखा और भी स्पष्ट हो चली, मुझे भरोसा हुआ कि गांव मिलेगा।

तब और एक विपद मन में जाग उठी—मैं ने विचारा कि ग्राम में न जाना चाहिये। क्योंकि जिस चिथड़े कपड़े को डांकुओं ने मुझे पहिरा दिया था, उस से किसी तरह कमर से ले कर ठेहुन तक ढंकता था, और मेरी छाती पर एक चिट्ट लत्ता भी न था! तो किस तरह बस्ती में जाकर लोगों को अपना काला मुंह दिखाऊं; इस लिये जाना न चाहिये। और यहीं मर जाना चाहिये, यही मैं ने स्थिर किया।

किन्तु पृथ्वी को सूर्य की किरणों से स्वर्णमयी देख कर, पक्षियों का कलरव सुन कर और लताओं में फूलों के गुच्छों को झूमते हुए देख कर फिर मेरी जीने की इच्छा हुई। तब मैं ने

पेड़ से थोड़े पत्ते तोड़, तिनके से गांथ उसे अपनी कमर और गले में डाल कर लत्तर से बांध लिया। इस तरह लज्जा के बचने का तो उपाय हुआ, पर मैं पगली की भांति जंचने लगी। फिर उसी पथ से मैं चली, जाते जाते गौ का शब्द सुन पड़ा। तब मैं ने समझा कि ग्राम निकट है।

किन्तु अब तो चल नहीं सकती, क्योंकि कभी चलने का अभ्यास तो था ही नहीं। तिस पर सारी रात का जागरन, रात का वह असह्य शारीरिक और मानसिक कष्ट और भूख प्यास। मैं श्रान्त होकर पगदंडी के पास ही एक पेड़ तले पड़ रही। और पड़ते ही नीन्द में सो गई।

नींद में स्वप्न देखा कि मैं मेघ के ऊपर चढ़ी हुई इन्द्रलोक में ससुरार गई हूं। स्वयं रतिपति मानों मेरे दूलह हैं और रति देवी मेरी सौतिन, —पारिजात के लिये मैं सौत से झगड़ा कर रही हूं। इतने ही में किसी के स्पर्श से मेरी आंख खुल गई। मैं ने देखा कि एक युवा पुरुष है, देखने से जान पड़ा कि वह कोई नीच जाति का कुली मज़दूर सा है जो मेरा हाथ थाम्ह कर मुझे खींचता है। सौभाग्यवश एक लकड़ी मेरे पास ही पड़ी थी, उसे उठा और घुमा कर उस पापी के सिर में मैं ने मारी। न जाने कहां से उस समय मुझ में इतना बल आ गया—वह व्यक्ति अपना माथा थाम्ह कर सांस रोक कर भागा।

फिर मैं ने उस लकड़ी को न छोड़ा और उसी पर अपना बोझ डाल कर चलना आरम्भ किया। बहुत दूर चलने पर एक बुढ़िया से भेंट हुई, वह एक गौ को हांक कर लिये जाती थी।

मैं ने उस से पूछा कि महेशपुर किधर है? या मनोहरपुर ही कहां पर है? इस पर उस ने कहा,—"बेटी! तुम कौन हो? ऐसी सुन्दर लड़की क्या राह बाट में अकेली घूमा करती है? अहा! बलिहारी! बलिहारी!! क्या सुन्दर रूप है! तुम मेरे घर चलो।" फिर क्या था? मैं उस के घर गई। उस ने मुझ को भूखी देख कर गौ दूह कर दूध पीने को दिया। वह महेशपुर ग्राम को जानती थी। उस से मैं ने कहा कि मैं तुम्हें रुपये दिलवाऊंगी,—तुम मुझे वहां पहुंचा दो। इस पर उस ने कहा कि मैं अपना घर द्वार छोड़ कर कैसे जाऊं? फिर उस ने जो पथ मुझे बतला दिया, उसी पथ से मैं चली। संध्या तक पथ चली, इस से बड़ी थकावट जान पड़ी। मार्ग में एक बटोही से पूछा कि,—"क्यों जी महेशपुर यहां से कितनी दूर है?" पर वह मुझे देखते ही जड़भरत सा बन गया। फिर थोड़ी देर तक कुछ सोचसाच कर उस ने कहा,—"तुम कहां से आती हो?" तब जिस ग्राम से उस बुढ़िया ने मुझे पथ बतला दिया था, उसी ग्राम का नाम बतलाया। इस पर उस पथिक ने कहा कि,—"तुम पथ भूल गई हो, बराबर उलटी आई हो; महेशपुर यहां से एक दिन का पथ है।"

यह सुनते ही मेरा सिर घूम गया, मैं ने उस से पूछा,—"तुम कहां जाओगे?" उस ने कहा,—"मैं यहीं पास ही गौरी ग्राम में जाऊंगा।" निरुपाय हो कर मैं उस के पीछे पीछे चली।

ग्राम के भीतर घुस कर उस ने मुझ से पूछा कि,—"तुम

यहां पर किस के घर जाओगी ?" मैं ने कहा,—"मैं यहां पर किसी को भी नहीं चीन्हती; किसी पेड़ के नीचे पड़ रहूंगी।"

पथिक ने कहा, "तुम कौन जात हो ?"

मैं ने कहा, "मैं कायस्थिनी हूं।"

उस ने कहा, "मैं ब्राह्मण हूं। तुम मेरे साथ आओ। तुम्हारा कपड़ा तो मैला और मोटा है; किन्तु तुम बड़े घराने की लड़की जान पड़ती हो; क्योंकि नीचों के घर ऐसा रूप नहीं होता !"

धूल पड़े रूप पर ! यह रूप रूप सुन कर मैं और भी जल भुन गई थी, किन्तु वे ब्राह्मण वृद्ध थे, इस लिये उन के संग गई।

मैं ने उस रात्रि को ब्राह्मण के घर दो दिन पीछे कुछ विश्राम किया। वे दयालु बूढ़े ब्राह्मण पुरोहिताई का काम करते थे। उन्हों ने मेरे वस्त्र की दशा देख विस्मित हो कर पूछा, "बेटी ! तुम्हारे कपड़े की ऐसी दशा क्यों हो रही है ? क्या किसी ने तुम्हारे कपड़े छीन लिये हैं ?" मैं ने कहा, "जी हां !" वे यजमानों के यहां से बहुतेरे वस्त्र पाया करते थे—उन्हीं में से ब्राह्मणदेवता ने एक जोड़ कम पनहे की चौड़े किनारे की साड़ी मुझे पहिरने के लिये दी। शंख की चूरियां भी उन के यहां थीं, उन्हें भी मांग कर मैं ने पहिर लिया।

बड़े कष्ट से मैं ने इन कामों को पूरा किया। शरीर गिरा पड़ता था। ब्राह्मणी ने थोड़ा भात दिया, जिसे मैं ने खाया। उन्हों ने एक मादुर की चटाई दी, उसे बिछा कर सो रही। किन्तु इतने कष्ट पर भी मुझे नींद न आई। मैं जो जन्म भर के

लिये गई, मेरा मर जाना ही अच्छा था, केवल ये ही बातें मन में उदय होने लगीं और नीन्द न आई।

सवेरे ज़रा सी नीन्द आ गई। फिर मैं ने एक स्वप्न देखा—कि सामने अन्धकारमय यमराज की मूर्त्ति विकट दांतों को निपोर कर हंस रही है; बस यह देख फिर मैं न सोई। दूसरे दिन सवेरे उठ कर देखा कि मेरे अंगों में अत्यन्त पीड़ा होती है, पांव फूल गये हैं और बैठने की शक्ति नहीं है।

जब तक मेरे शरीर का दर्द न छूटा तब तक मुझे लाचार हो ब्राह्मण के घर रहना पड़ा। ब्राह्मण और उन की स्त्री ने भी मुझे आदरपूर्वक रक्खा। किन्तु मैं ने महेशपुर जाने का कोई उपाय न देखा। कोई भी स्त्री पथ नहीं जानती थी, जो जानती थी सो जाना ही स्वीकार न करती थी। पुरुषों में अनेक लोग जाने के लिये स्वीकृत हुए, किन्तु उन लोगों के साथ अकेली जाने में मैं भय करने लगी। ब्राह्मण ने भी मना किया और कहा कि, "उन लोगों का चरित्र अच्छा नहीं है, इस लिये उन के संग न जाओ। उन का क्या मतलब है सो जान नहीं पड़ता और मैं कुलीन हो कर तुम्हारे ऐसी सुन्दरी स्त्री को अनजाने पुरुष के संग कहीं भी नहीं भेज सकता।" बस उन की बातें सुन कर मैं रुक गई।

एक दिन मैं ने सुना कि इस ग्राम के कृष्णदास वसु नामक एक भले आदमी सपरिवार कलकत्ते जायंगे। यह सुन कर मैं ने इस सुयोग को उत्तम जाना। यद्यपि कलकत्ते से मेरा पीहर (मैका) और ससुरार बहुत दूर है। किन्तु वहां पर मेरे ज्ञाति के चाचा जीविका के कारण रहते थे। मैं ने सोचा कि कलकत्ते जाने

पर चाचा का पता अवश्य लग जायगा, तब वे मुझे अवश्य ही नैहर भेज देंगे, या मेरे पिता को संवाद देंगे।

मैं ने यह बात ब्राह्मण को बताई। वे बोले कि—"यह उत्तम विचार किया है। बाबू कृष्णदास बसु मेरे यजमान हैं, सो मैं तुम्हें संग लेजाकर उन से कह आऊंगा। वे वृद्ध हैं, और बड़े भले आदमी हैं।"

ब्राह्मण मुझे बाबू कृष्णदास के पास ले गये। उन्हों ने कहा कि, "यह एक भले मानुस की लड़की है, जो विपत्ति में पड़ पथ भूलकर यहां आ पड़ी है। आप यदि अपने संग इसे कलकत्ते ले जायं तो यह अनाथिनी अपने पिता के घर पहुंच जाय।" यह सुन बाबू कृष्णदास सम्मत हुए और मैं उन के अन्तःपुर में गई। दूसरे दिन उन के घर की स्त्रियों के संग, बसु महाशय की स्त्री से अनादृत होने पर भी मैंने कलकत्ते की यात्रा की। पहिले दिन पांच चार कोस पैदल चल कर गंगातीर आना पड़ा, फिर दूसरे दिन नाव पर चढ़ी।

पांचवां परिच्छेद।

छड़े झनकाती जाऊंगी!

मुझ को कभी गंगाजी का दर्शन नहीं हुआ था। अब उनके दर्शन करन से इतना आह्लाद हुआ कि अपने ऐसे दुःख को भी क्षण भर के लिये मैं भूल गई। गंगा का विशाल हृदय! उस में छोटी छोटी तरंगें और उन तरंगों के ऊपर सूर्य की किरणों की

चमचमाहट; बस जहां तक दृष्टि जाती थी उतनी दूर तक जल चमचम करता हुआ बहता दिखलाई देता था। किनारे पर कुंजों की भांति संवारी हुई वृत्तों की असंख्य पंक्ति; जल में भांति भांति की नौकाएं; जल के ऊपर डांड़ के छपाछप शब्द; मल्लाहों के कोलाहल; जल का कलरव; किनारे किनारे घाटों पर हल्ले; और कितने प्रकारके लोग कितने प्रकारसे स्नान कर रहे हैं। कहीं पर श्वेतमेघ के समान फैली हुई बालूमय पटपर भूमि जहां अनेक प्रकार के पत्ती भिन्न २ प्रकार के शब्द कर रहे हैं। यथार्थ में गंगा पुण्यमयी है अतृप्त नयनों से कई दिनों तक उन की शोभा देखती हुई चली।

जिस दिन कलकत्ते पहुंचूंगी, उस के एक दिन पहिले सन्ध्या होने से कुछ पूर्व ज्वार आया, जिस से नाव आगे न जा सकी। एक अच्छे ग्राम के एक पक्के घाट के पास हमारी नाव लगा दी गई। फिर मैं ने न जाने कितनी सुन्दर २ वस्तुएं देखीं। मछुए केले के फूल के खोइया सरीखी डोंगी पर से मछली पकड़ते थे सो मैं ने देखा। विद्वान् ब्राह्मण घाट की सीढ़ियों पर बैठ कर शास्त्र का विचार करते थे, सो देखा। कितनी सुंदरियां सज धज कर जल भरने आईं, उन में कोई जल उछालती है, कोई कलसी भरती, कोई भरी ढरकाती, और फिर भरती, हँसती, गप्प हांकती, भरी ढरकाती और पुनः भरती थीं। यह देख मुझे एक पुराना गीत स्मरण हो आया—

खड़ी मैं जमुना तट आली—
कांख लिये कलसी मैं इकली,
भरूं नीर अभिराम।

जल के भीतर प्रान पियारे,
दीख परे घन श्याम॥
खड़ी मैं जमुना तट आली—
डुबकावन लागी जब गगरी,
नजर पऱ्यो नहिं कोय।
जानि परत छलिया वह जल में॥
बैठि रह्यो तम गोय।
खड़ी मैं जमुना तट आली—

उसी दिन वहां पर मैं ने दो लड़कियों को देखा था जिन्हें मैं कभी न भूलूंगी। उन बालिकाओं का वयस सात आठ बरस का होगा। देखने में वे दोनों अच्छी थीं, तौ भी परम सुन्दरी न थीं; किन्तु सजी थीं अच्छी तरह। उन के कानों में करनफूल थे और हाथ तथा गले में भी एक एक गहने थे। फूलों से उन की चोटी संवारी हुई थी। शृंगारक्षार के फलों से रंगी, दोहरी काली किनारेवाली साड़ियां वे दोनों पहिरे हुई थीं। और उन के पैरों में चार चार छड़े थे और कमर पर दोनों दो छोटी छोटी कलसियां लिये हुई थीं। उन दोनों ने घाट की सीढ़ियों पर उतरते उतरते जल के ज्वार भाटे का एक गीत गाया। वह गीत मुझे याद है और मीठा लगा था, इसी लिये यहां पर लिखा गया। उन दोनों में एक जनी एक पद गाती थी और दूसरी दूसरा पद। उन दोनों का नाम भी मैं ने सुना था कि अमला और निर्मला है। पहिले अमला ने गाया,—

अमला।

धान-खेत में लहर चली है,
बांसतले में पानी।
चलो सखीरी! जलभर लाऊं,
जलभर लाऊं रानी!

निर्मला।

घाट बाट के लता तरुन में,
खिले फूल सुखदानी।
चलो सखीरी! जलभर लाऊं,
जलभर लाऊं रानी!

अमला।

मदमाती ह्वै मधुर मंद हंसि,
छोड़ूं हंसी-फुहार।
लै गगरी ह्वै गरब गुमानी,
चलूं छड़े झनकार॥
चलो सखीरी! जलभर लाऊं,
जलभर लाऊं रानी!

निर्मला।

सजि भूषन दै पगनि महावर,
कढ़ि, कर अंचल छोर।
ठुमुक चलनि, पगधरनि ताल पै
करूं छड़े को सोर॥

चलो सखीरी ! जलभर लाऊं,
जलभर लाऊं रानी !

अमला।

गोलबांध के घूमैं बालक,
छोड़ि सबै खिलवाड़।
बुढ़िया ठिलिया बिछिलाहट में,
गिरती खाय पछाड़॥
(हम तो) मदमाती ह्वै मधुर मंद हंसि,
करूं छड़े झनकार—
मैं तो करूं छड़े झनकार,
सखीरी ! करूं छड़े झनकार॥

दोनों जनी।

चलो सखीरी ! जलभर लाऊं,
जलभर लाऊं रानी !

बालिकाओं के छिड़के हुए रस से यह प्राण कुछ शीतल हुआ। मुझे मन लगा कर यह गीत सुनती देखकर बाबू कृष्णदास की स्त्री ने मुझ से पूछा,—

"उस खाक सरीखे गीत को यों कान खड़े कर क्यों सुन रही हो?"

मैं ने कहा,—"इस में बुराई क्या है?"

बाबू कृष्णदास की स्त्री—"इन छोकड़ियों की मौत हो, और क्या ! छड़े झनकानेवाला गीत भी किसी गीत की गिनती में है?"

मैं ने कहा,—"यही गीत चाहे सोलह बरस की लड़की के मुंह से अच्छा न लगता, किन्तु सात बरस की छोकड़ी के मुँह से बड़ा मीठा लगता है। जवान मर्द के हाथ के थप्पड़ घूंसे नहीं भाते, किन्तु तीन बरस के बालक के हाथ के बड़े मीठे लगते हैं।"

यह सुन वे कुछ बोलीं तो नहीं किन्तु मुंह लटका कर बैठी रहीं। मैं सोचने लगी। मैं ने सोचा कि ऐसा भेद क्यों है? एक ही वस्तु अवस्थाभेद से दो तरह की क्यों दिखलाई देती है? जो दान दरिद्र को दिया जाय उस से पुण्य होता है, और वही यदि धनवान् व्यक्ति को दिया जाता है तो खुशामद में क्यों गिना जाता है? जो सत्य धर्म का प्रधान अंग है, वही अवस्थाभेद से आत्मश्लाघा अथवा परनिन्दा के पाप में क्यों गिना जाता है? जो क्षमा परम धर्म है वही यदि दुष्कर्म करने वालों के लिये की जाती है तो महापाप में क्यों समझी जाती है? सचमुच यदि कोई अपनी साध्वी स्त्री को वन में छोड़ आवे, तो लोग उसे महापापी कहेंगे, किन्तु श्री रामचन्द्र जी ने श्री जानकी जी को वन में भेज दिया था, तथापि उन्हें तो कोई भी महा-पातकी नहीं कहता, सो क्यों?

इस पर मैं ने निश्चय किया कि अवस्थाभेद से यह सब होता है। यह बात मेरे मन में जम गई। इस के आगे जो मैं एक दिन निर्लज्ज काम की बात कहूंगी, इसी लिये मैं ने इस बात को मन ही मन स्मरण कर रक्खा था। और इसी लिये यह गीत भी यहां पर लिख दिया।

नाव पर चढ़ी हुई कलकत्ता आते समय दूर ही से उसे (कलकत्ते को) देख कर मैं विस्मित और भयभीत हुई। मैं ने देखा कि अटारी पर अटारी, घर के पास घर, मकान के पीछे मकान, उस के पीछे भी मकान; मानों कलकत्ता अट्टालिकाओं का समुद्र है कि जिस का अन्त—संख्या—और सीमा नहीं है। जहाज़ के मस्तूलों के जङ्गल को देख कर मेरे ज्ञान, बुद्धि, सब उथल पुथल हो गये। नावों की अनगिनत और अनन्त पांति देख कर मन में कहा कि इतनी नावों को आदमी ने बनाया क्यों कर? * पास आकर देखा कि तीरवर्ती राजमार्ग में गाड़ी, पालकी पिपीलिका की पंक्ति की भांति चल रही हैं, और जो पैदल चल रहे हैं, उन की तो कुछ गिनती ही नहीं है। तब मैं ने मन में सोचा कि इन आदमियों के जंगल कलकत्ते में मैं चाचा को क्यों कर खोजूंगी? अरे! नदी तीर की बालुकाराशि में से चीन्हे हुए बालू के कण को क्यों कर खोज निकालूंगी?

छठा परिच्छेद।

सुबो!

बाबू कृष्णदास कलकत्ते कालीघाट में पूजा करने आये थे। भवानीपुर में उन्हों ने डेरा किया। फिर मुझ से पूछा,—"तुम्हारे चाचा का घर कहां पर है कलकत्ते में या भवानीपुर में?"

---

* अब कलकत्ते में नावों की संख्या पहिले की अपेक्षा शतांश भी नहीं है।

यह तो मैं जानती न थी।

फिर उन्हों ने पूछा,—"कलकत्ते में किस जगह उस का घर है?"

सो तो मैं कुछ भी नहीं जानती थी-वरन मैं तो यह जानती थी कि जैसे महेशपुर एक छोटा सा गांव है, उसी तरह कलकत्ता भी होगा। तब एक भले आदमी का नाम लेते ही लोग बतला देंगे। पर अब देखती हूं कि कलकत्ता अनन्त अट्टालिकाओं का समुद्र है। अपने ज्ञातिवाले चाचा के खोज निकालने का मैं ने कोई उपाय न देखा। बाबू कृष्णदास ने मेरी ओर से उन की बहुत खोज की, किन्तु कलकत्ते में एक सामान्य ग्राम-व्यक्ति का उस प्रकार से अनुसंधान करने से क्या होता?

बाबू कृष्णदास की इच्छा कालीपूजा कर के काशी जाने की थी। पूजा हो गई तब वे सपरिवार काशी जाने की तैयारी करने लगे और मैं रोने लगी। उन की स्त्री ने कहा,—"तुम मेरी बात सुनो, अब किसी के घर दासी का काम करो। आज सुबो के आने की बात है, उस से मैं कह दूंगी तो वह तुम्हें नौकर रख लेगी।"

यह सुन मैं पछाड़ खा चिल्ला चिल्ला कर रोने लगी कि,—"हाय! अन्त में मेरे करम में क्या लौंड़ी होना ही बदा था?" मेरे ओठ चबाने से लोहू बहने लगा। यह देख बाबू कृष्णदास को दया तो आई, किन्तु उन्हों ने कहा कि,—"हम अब क्या करें?" यह उन्हों ने ठीक कहा;—बेचारे करते ही क्या? मेरा तो करम फूट गया था।

मैं एक कोठरी में जा कोने में पड़ कर रोने लगी। सन्ध्या होने से कुछ देर पहिले बाबू कृष्णदास की स्त्री ने मुझे पुकारा। मैं बाहर आ कर उन के पास गई। उन्हों ने कहा,—"यह सुबो आई है, तुम यदि इस के यहां लौंडी का काम करना चाहो तो मैं इस से कह दूं।"

दासी न बनूंगी, बिना खाये मर जाऊंगी, यह तो पहिले ही से सोच चुकी हूं;–किन्तु यह बात इस समय की नहीं है—इस समय सुबो को एक बार देख लिया। "सुबो" सुन कर मैं ने सोचा था कि "साहब सुबो" के मेल की कोई चीज़ होगी, क्यों-कि मैं तो गांव गंवई का लड़की थी न! किन्तु देखा कि सो बात नहीं है–यह तो एक स्त्री है–देखने लायक सामग्री है। बहुत दिनों से ऐसी अच्छी चीज़ नहीं देखी थी, वह मेरे ही बराबर की रही होगी। उस का रंग मुझ से अधिक साफ़ न था, सिंगार पटार भी कुछ अधिक न था, केवल कानों में कई बालियां, हाथों में कड़े, गले में चीक (गहना विशेष) और तन पर एक काले किनारे की साड़ी भर थी, इसी लिये वह देखने योग्य सामग्री है। ऐसा मुख मैं ने नहीं देखा था, मानों कमल खिल रहा है और चारों ओर नागिन सी घुंघराली अलकों ने फन उठा कर उस मुखपद्म को घेर रक्खा है। बहुत बड़े २ नेन हैं—जो कभी स्थिर और कभी हास्यमय दीखते हैं। दो अधरोष्ठ पतले पतले लाल फूल की उलटी हुई पत्ती के समान शोभामय हैं। मुखड़ा छोटा—बस सब मिला कर मानों एक खिला हुआ फूल है। गढ़न उस की कैसी थी, इसे न जांच सकी। आम के पेड़ की वह डाल, जिस में

नई पत्ती निकलती है, जैसे हवा में खेलती है, उसी प्रकार उस के सारे अंग थिरक रहे थे। जैसे नदी में तरंगें खेलती हैं—उस का शरीर भी उसी तरह हिल्लोरित होता था—इस लिये मैं कुछ जांच न सकी कि बात क्या है। उस के मुख में न जाने क्या लगा हुआ था कि जिस से उस ने मुझ पर जादू डाला। पाठकों को इस बात के स्मरण दिलाने की कोई आवश्यकता नहीं है कि मैं मर्द नहीं हूं, वरन स्त्री हूं-सो मैं भी एक दिन पूरी सौंदर्य-गर्विता थी। सुबो के संग एक तीन बरस का बालक है, वह भी उसी प्रकार एक अधखिले फूल के समान है। वह उठता है, गिरता है, बैठता है, खेलता है, हिलता है, डोलता है, नाचता है, दौड़ता है, हंसता है, बकता है, मारता है, और सबों को प्यार करता है।

मुझे पलक शून्य नयनों से सुबो और उस के लड़के को निहारती देख बाबू कृष्णदास की स्त्री चटक कर बोलीं,—

"बातों का जवाब क्यों नहीं देती ? क्या सोच रही हो ?"

मैं ने पूछा,-"ये कौन हैं ?"

इस पर उन्हों ने डपट कर कहा,—"क्या यह भी बतलाना पड़ेगा ? यह सुबो है, और कौन है ?"

तब सुबो ज़रा मुस्कुरा कर बोली-"हां ! मौसी ! ज़रा बतला देना चाहिये, यह नई है, मुझे पहिचानती तो है नहीं।" यों कह वह मेरी ओर फिर कर कहने लगी, "अजी ! मेरा नाम सुभाषिणी है, ये मेरी मौसी हैं, मुझे लड़कपन से ये लोग "सुबो" कह कर पुकारती आती हैं।"

इस के अनन्तर बातों के डोर को मालकिनी ने अपने हाथ में ले लिया और कहा,—

"कलकत्ते के रामरामदत्त के लड़के के साथ इस का विवाह हुआ है। इस के ससुरार वाले बड़े अमीर हैं। यह ब्याह होने पर बराबर ससुरार ही रहती है—हम लोग इसे देखने को तरसा करती हैं। मैं कालीघाट पूजा करने आई हूं सो सुन कर यह मुझ से ज़रा भेंट करने आई है। इस के ससुरारवाले बड़े आदमी हैं, सो तुम अमीर के घर का काम धन्धा कर सकोगी न?"

हाय! मैं हरमोहन दत्त की लड़की हूं, एक दिन मैं ने रुपये के चौतरे पर सोने की इच्छा की थी—वही मैं—आज एक बड़े आदमी के घर का काम काज कर सकूंगी? मेरी आंखों में जल भी भर आया और मुख पर हंसी भी दौड़ आई।

किन्तु इसे और किसी ने तो न देखा, केवल सुभाषिणी ने देख लिया। उस ने अपनी मौसी से कहा,—"ज़रा मैं अकेले में इन से काम धन्धे के विषय में बात-चीत कर लूं? यदि ये राज़ी होंगी तो इन्हें अपने साथ ले जाऊंगी।" यह कह कर वह मेरा हाथ थाम्ह कर खींचती हुई एक कोठरी के भीतर ले गई; वहां पर कोई न था, केवल वही बच्चा अपनी मा के संग दौड़ा चला आया था। एक चौकी वहां पर बिछी हुई थी, उस पर सुभाषिणी बैठी और मुझे भी उस ने हाथ पकड़ खींच कर अपने पास बैठाया; फिर कहा,—"देखो बहिन, अपना नाम मैं ने बिना तुम्हारे पूछे ही बतलाया; अब तुम अपना नाम बताओ!"

अरे!-"बहिन!"-जो दासी होगी, उस के लिये ऐसा संबोधन!!! तो यदि दासी का काम करूंगी तो इसी के यहां करूंगी। मन ही मन यह सोच कर मैं ने उत्तर दिया,—"मेरे दो नाम हैं,—एक चलित और दूसरा अप्रचलित। उन में जो अप्रचलित नाम है, वही आप की मौसी आदि से बतलाया है, इस लिये आप को भी अभी वही नाम बतलाती हूं—मेरा नाम कुमुदिनी है।

बच्चा बोला,—"कुनुडिनी।"

सुभाषिणी बोली,—"अच्छा! अपना दूसरा नाम इस समय ढका रहने दो; हां! जाति तो कायस्थ है न?"

मैं ने हंस कर कहा,-"हां हम कायस्थ हैं।"

सुभाषिणी ने कहा,—"अच्छा अभी मैं यह तुम से नहीं पूछती कि तुम किस की बेटी, किस की बहू हो या तुम्हारा घर कहां है। पर इस समय जो मैं कहती हूं, उसे सुनो। यह मैं जान गई कि तुम भी किसी अमीर की लड़की हो—क्योंकि अभी तक तुम्हारे हाथ और गले में गहने की स्याही चढ़ी हुई है। इस लिये मैं तुम्हें दासी का काम करने के लिये न कहूंगी—तुम कुछ रसोई बनाने जानती हो?"

मैं ने कहा,—"जानती हूं" क्योंकि पीहर में मैं रसोई पानी में बड़ाई पा चुकी थी।

सुभाषिणी ने कहा—"अपने घर हम लोग सभी रांधती हैं। [बीच में बच्चा बोल उठा—मा, अमलोग दांदती हूं।] तौ भी कलकत्ते की रिवाज देख कर एक आध रसोईदारिन भी रखनी

पड़ती है। आजकल जो है, वह अपने घर जायगी। (बालक बोल उठा—"त मान्नाली दाई।") सो मैं सासू जी से कह कर तुम्हें उस की जगह रखवा दूंगी। परन्तु तुम्हें रसोईदारिन की तरह न रहना पड़ेगा, हम लोग अभी कोई रसोई बनावेंगी, तुम भी कभी कभी संग संग रांधना। क्यों, राज़ी हो?"

बालक बोला,—"आजी? औ आजी!"

उस की मा बोली,—"तू पाजी!"

बच्चा बोला,—"अम, वाबू, बाबा पाजी।"

"ऐसी बात नहीं कहना, बेटा!" यों लड़के से कह कर मेरी ओर देख हंस कर सुभाषिणी बोली,—

"यह नित्य ही यह बात कहा करता है।"

मैं ने कहा,—"आप के यहां मैं लौंडी का काम करने में राज़ी हूं।"

"सुनो! मुझे तुम "आप, आप" कह कर क्यों संबोधन करती हो? जो यह कहना हो तो मेरी सासू जी से कहना। उन्हीं सासू जी का ज़रा भारी बखेड़ा है—क्योंकि वह बड़ी ही लड़ाकी हैं; सो जैसे हो, उन्हें वश में करलेना पड़ेगा। सो तुम भली भांति कर सकोगी—मैं भी आदमी चीन्हती हूं। क्यों राज़ी हो?"

मैं ने कहा,—"राज़ी न होऊंगी तो करूंगी क्या? मेरा तो और कोई ठौर ठिकाना है नहीं।—" यह कहते कहते मेरी आंखों में आंसू भर आये।

उस ने कहा,—"ठौर ठिकाना क्यों नहीं है? रहो न बहिन!

हां! असल बात तो मैं भूल ही गई; ठहरो मैं अभी आती हूं"
यह कह कर वह झट से दौड़ कर अपनी मौसी के पास गई और बोली,—"क्यों मौसी! यह तुम्हारी कौन होती है?"

बस! इतना तो मैं ने सुना; किन्तु उस की मौसी ने क्या जवाब दिया, सो न सुना। जान पड़ता है कि उन्हें जहां तक मालूम होगा, वही उन्हों ने कहा होगा। सच तो यह है कि वे कुछ भी नहीं जानती थीं; और यदि कुछ जानती भी थीं तो उतना ही कि जितना उन्हों ने पुरोहित जी से सुना था। बच्चा इस बार अपनी मा के संग नहीं गया; और मेरा हाथ धर कर खेलने लगा। और मैं उस के साथ उस के मन की बातें करने लगी।

तब में सुभाषिणी लौट आई।

बच्चा बोला,—"मा, इन का हात देखो।"

सुभाषिणी ने हंस कर कहा,—"मैं ने बहुत पहिले ही से देख लिया है।" फिर मुझ से कहा,—"चलो जो, गाड़ी तैयार है। यदि न चलोगी तो मैं बरज़ोरी ले चलूंगी। परन्तु वह बात जो कही है, उसे मत भूलना, सासू जी को वश में कर लेना पड़ेगा।"

यह कह कर उस ने मुझे खींच के ले जा कर गाड़ी पर चढ़ाया। पुरोहित जी के दिये हुए दो रंगीन किनारे की साड़ी में से एक तो मैं पहिरे थी; और दूसरी डोरी पर पड़ी सूख रही थी—पर उसे उतार लेने का अवसर मुझे सुभाषिणी ने न दिया। उस साड़ी के बदले में मैं उस के बच्चे को अपनी गोद में ले कर उस का मुंह चूमती चूमती चली।

सातवां परिच्छेद।

स्याही का बोतल।

मा—सुभाषिणी की सास—को अपने वश में करना होगा, इस लिये आते ही उन्हें प्रणाम कर के उन के चरण की धूल अपने सिर चढ़ाई। फिर एक नज़र उन्हें देख लिया कि वे किस ढब की हैं। वे उस समय छत के ऊपर अंधेरे में एक चटाई बिछा कर तकिये पर सिर रक्खे सोई हुई थीं, और एक दासी उन का पैर दाबती थी, जिन को देख कर मुझे ऐसा जान पड़ा कि मानो एक लम्बा सा स्याही का बोतल गले तक स्याही से भरा हु आ चटाई के ऊपर लम्बा हो कर पड़ा हुआ है और पके हुए केश बोतल के सफ़ेद काग * की भांति शोभा दे रहे हैं, जिस से अंधेरा और भी गहरा हो रहा है। मुझे देख कर मालकिनी ने अपनी बहू (पतोहू) से पूछा,—

यह कौन है?

बहू बोली,—आप एक रसोईदारिन खोजती थीं न? सोई ले आई हूं।

मालकिनी,— कहां पाया?

बहू—मौसी ने दिया।

मालकिनी,—ब्राह्मणी है कि कैथिन?

बहू,—कैथिन।

मालकिनी—अः तेरी मौसी के मुंह में आग लगे! कैथिन से कैसे काम चलेगा? जो किसी दिन ब्राह्मण को भात खिलाना हो तो कैसे खिलाऊंगी?

---

* Capsule.

बहू०—रोज़ २ तो ब्राह्मण को भात खिलाना नहीं है। तब तक काम चले, पीछे ब्राह्मणी मिलने से रक्खी जायगी। ब्राह्मण को लड़की बड़ी टिपोरी होती है। यदि हम लोग उस के रसोई घर में जायं तो वह सब हांड़ी बासन फोड़ के फेंक देती है और जूठा भोजन मानों हम लोगों को प्रसाद देने आती है! क्या हम लोग चमइन हैं?

मैं ने मन ही मन सुभाषिणी की बहुत प्रशंसा की—देखा कि स्याही के बोतल को वह मूठी के भीतर रखना जानती है। घर की मालकिनी ने कहा, "हां, सो तो ठीक है—छोटे (ग़रीब) लोगों का इतना अभिमान सहा नहीं जाता। और इन दिनों बहुत जगह कैथिन रखने की ही चाल देखती हूं। मुशाहरा कितना किये हो?"

बहू—सो हम से कुछ बात नहीं हुई।

माल०—हाय रे कलयुगी लड़की! नौकर रख के ले तो आई है पर उस के मुशाहरा की बात नहीं हुई?

मालकिनी ने मुझ से पूछा—तू क्या लेगी?

मैं ने कहा—जब आप लोगों के आश्रय में आई हूं तो जो आप लोग देंगी सोई मैं लूंगी।

माल०—सो तो है, ब्राह्मणी को कुछ अधिक देना पड़ता है; पर तुम तो कैथिन हो—तुम को तीन रुपये का महीना और खाना कपड़ा दूंगी।

मेरे लिये तो उस समय ठहरने की जगह मिलना ही बहुत था—इस लिये मैं उसी पर राज़ी हुई। यह कहना अधिक है कि

मुशाहरा का नाम सुनते ही मुझे रुलाई आ गई। मैं ने कहा—"वही दें।"

मन ही मन सोचा कि बखेड़ा मिटा—पर सो न हुआ, लम्बे बोतल में बहुत स्याही है। उस ने कहा—

"तुम्हारी उमर कितनी है? अन्धेरे में उमर का ठिकाना नहीं मालूम होता, पर बात तो लड़के की सी मालूम होती है।

मैं ने कहा—उन्नीस बीस बरस।

माल०—ऐ बाछी! तब तू अपनी नौकरी दूसरी जगह खोज। मैं सयानी लड़की को नहीं रखती।

सुभाषिणी बीच ही में बोल उठी—"क्यों मा! क्या सयानी लड़की काम नहीं कर सकती?

माल०—दुर पागल! सयानी लड़की क्या अच्छी होती है?

सु०—सो क्यों मा! क्या सारे देश की सयानी लड़की ख़राब होती है?

माल०—सो नहीं है—पर जो ग़रीब है, और काम धंधा करके जीती है सो क्या अच्छी होती है?

इस बार मैं रोना नहीं रोक सकी। रोती हुई वहां से उठ गई। स्याही के बोतल ने बहू से पूछा—

"छोकड़ी चली क्या?"

सुभाषिणी ने कहा—मालूम तो ऐसा ही होता है।

मा—अच्छा, जाय।

सु०—क्या गृहस्थ के घर से बिना खाये जायगी? उस को कुछ खिला कर बिदा कर देती हूं।

यह कह कर सुभाषिणी वहां से उठ मेरे पीछे २ आई। मुझे धर के अपने सोने के घर ले गई। मैं ने कहा—

"अब आप मुझे क्यों रोकती हैं? पेट वा प्राण की लालच से मैं ऐसी बात सुनने के लिये नहीं रह सकूंगी।"

सुभाषिणी ने कहा—रहने का काम नहीं है, पर मेरे निहोरे आज की रात भर रहो।

कहां जाऊंगी? यही सोच कर, आंख का आंसू पोंछ, उस रात वहीं रहने को राज़ी हुई। इस के पीछे सुभाषिणी ने फिर यही बात पूछी—

"यदि यहां न रहोगी तो कहां जाओगी?"

मैं ने कहा— गंगा में।

इस बार सुभाषिणी ने भी आंसू पोंछा और कहा, "तुम्हें गंगा में नहीं जाना होगा। मैं क्या करती हूं सो ज़रा बैठ कर देखो, बखेड़ा मत करना—मेरी बात सुनो।"

यह कह कर सुभाषिणी ने 'हारानी' नामक दासी को पुकारा। हारानी सुभाषिणी की खास लौंड़ी थी। वह आई। वह मोटी झोंटी, काली कुचकुच, चालीस बरस से अधिक की थी। पर हंसी उस के मुंह से उमड़ी पड़ती थी—चुलबुलाहट ने भी संग नहीं छोड़ा था।

सुभाषिणी बोली—

"उन को बुला ले आओ।"

हारानी बोली—"इस समय क्या वे आवेंगे? हम कैसे बुलावें?"

सुभाषिणी ने भौं टेढ़ी कर के कहा—"जैसे हो—जाओ, बुला लाओ।"

हारानी हँसती हुई चली गई। मैं ने सुभाषिणी से पूछा—

"किस को बुला पठाया है? अपने स्वामी को?"

सु०—तब क्या इतना रात को महल्ले के मोदी को बुलाऊंगी?

मैं ने कहा—तो क्या मुझे उठ कर अलग जाना होगा?

सुभाषिणी ने कहा—नहीं, यहीं बैठी रहो।

सुभाषिणी के स्वामी आये। वे बहुत ही सुन्दर पुरुष हैं। आते ही उन्हों ने पूछा—

"क्यों तलबी हुई है?" इस के बाद मुझे देख कर कहा—यह कौन है?

सुभाषिणी बोली—इसी के लिये तो आप को बुलवाया है। हमलोगों की रसोईदारिन अपने घर जायगी, इसी लिये उस की जगह पर रखने के लिये मौसी के यहां से इसे ले आई हूं, किन्तु मा इसे रखना नहीं चाहतीं।

उस के स्वामी ने कहा—क्यों नहीं चाहतीं?

सु०—युवती है।

सुभाषिणी के स्वामी कुछ हंस कर बोले—"तो हमें क्या करना होगा?"

सु०—इस को रखवा देना होगा?"

स्वामी—क्यों?

सुभाषिणी उस के पास जाकर—जिस में मैं न सुनूं ऐसे धीरे से बोली—

"मेरा हुकम।"

किन्तु मैं ने सुन लिया। उस के स्वामी ने भी वैसे ही धीरे से कहा—

" जैसी आज्ञा। "

सु०—किस समय करेंगे ?

स्वामी—भोजन के समय।

उन के चले जाने पर मैं ने कहा– "मान लो कि वे मुझे रखवा भी दें पर ऐसी कड़ी बात सह के मैं कैसे रह सकूंगी ?"

सु०—पीछे देखा जायगा। गंगा तो एक दिन में सूख नहीं जायंगी !

रात में नौ बजे सुभाषिणी के स्वामी (उन का नाम रमण बाबू है) भोजन करने आये। उन की मा निकट में आकर बैठीं। सुभाषिणी मुझे खींच कर ले चली " चलो देखें क्या होता है।"

हमलोगों ने ओट से देखा कि अनेक प्रकार के व्यंजन परोसे गये हैं—पर रमण बाबू ने एक बार ज़रा सा मुंह में देकर सब को हटा दिया। कुछ भी खाया नहीं। उन की माता ने पूछा—

बबुआ ! आज खाया काहे नहीं ?

पुत्र ने कहा—ऐसी रसोई तो भूत प्रेत भी नहीं खा सकता। इस ब्राह्मणी की बनाई रसोई खाते खाते मुझे तो अरुचि हो गई। इच्छा होती है कि कल से फूआ के घर खाया करूं।

तब मालकिनी का मन नीच हुआ। बोलीं, " सो नहीं करना होगा। मैं दूसरी रसोईदारिन बुलाती हूं। "

रमण बाबू चुपचाप हाथ धो कर चले गये। यह देख कर सुभाषिणी बोली, " आज तो हम ही लोगों के लिये इनका भोजन

नहीं हुआ। न हो—पर काम तो हुआ।" मैं उदासी होकर कुछ कहना ही चाहती थी कि इतने ही में हारानी ने आकर सुभाषिणी से कहा, "आप को बूढ़ी मा बुलाती हैं।" इतना कह कर वह यों ही मेरी ओर देख कर हंसने लगी। मैं जानती थी कि हंसना इसका रोग है। सुभाषिणी सास के पास गई, मैं ओट से उन दोनों की बात सुनने लगी।

सुभाषिणी की सास कहने लगी, "वह छोकड़ी कैथिन है कि चली गई?"

सु०—नहीं, उस ने तो अभी तक खाया नहीं है, इसलिये जाने नहीं दिया है।

मालकिनी बोलीं, "वह कैसी रसोई बनाती है?"

सु०—सो तो मैं नहीं जानती।

माल०—आज नहीं जाय तो क्या हानि है? कल उस से दो एक चीज़ बनवाकर देखना होगा।

सु०—तब उसको रखती हूं।

यह कह कर सुभाषिणी मेरे पास आ कर पूछने लगी, "क्या तुम रांधना जानती हो न?"

मैं ने कहा, "जानती हूं—यह तो पहले भी कह चुकी हूं।"

सु०—अच्छी रसोई बना सकती हो न?

मैं—कल खा कर देखने ही से मालुम हो जायगा।

सु०—यदि अभ्यास न हो तो कहो, मैं पास में बैठ कर सिखा दूंगी।

मैं ने हंस कर कहा—"अच्छा, पीछे देखा जायगा।"

—:*:—

आठवां परिच्छेद ।

बीबी पाराडव !

दूसरे दिन मैं ने पाक किया । सुभाषिणी मुझे बतलाने आई थी, पर उसी समय मैं ने जान बूझ कर लाल मिरचा का ऐसा फोरन दिया जिस से खांसते खांसते उठ कर भागो, बोली, "जान गई—माई !"

रसोई होने पर बालक बालिकाओं ने पहिले खाया । सुभाषिणी का लड़का कुछ अधिक अन्न व्यंजन नहीं खाता था, पर उसकी एक पांच बरस की लड़की थी । सुभाषिणी ने उस से पूछा कि—" कैसी रसोई बनी है, हेमा ?"

उस ने कहा,—"अच्छी है जी अच्छी, बहुत ही अच्छी !" वह लड़की कविता रटने में बहुत प्रसन्न रहती थी सो फिर बोली—" अच्छी है जी अच्छी,

रांधहु सुन्दर, बांधहु सुन्दर,
रचि बेले की माला ।
साड़ी रंगी, हाथ में हांड़ी,
रांधै ग्वालिन बाला ॥
इतने ही में बजी बांसुली,
कदम—कुंज सुख देन ।
रोवत बालक छोड़ि रसोई,
चली अली जल लेन ॥"

उस की मा ने उसे धमका कर कहा,—"चुप, कविता मत बघार।" तब लड़की चुप हो गई।

इस के अनन्तर रमण बाबू खाने बैठे। तब मैं आड़ में से देखने लगी। मैं ने देखा कि उन्हों ने सारी सामग्री खाडाली। यह देख मालकिनी के मुख से हंसी उमड़ने लगी। रमण बाबू ने पूछा,—"आज किस ने पाक किया है, मा ?"

मालकिनी ने कहा, - "एक नई रसोईदारिन आई है।"

रमण बाबू ने कहा,—"यह अच्छी रसोई बनाती है।" यह कह वह हाथ धोकर उठ गये।

इस के पीछे मालिक खाने बैठे। पर मैं वहां न जा सकी, मालकिनी की आज्ञा से बूढ़ी ब्राह्मणी उन के लिये भात ले गई। अब मैं ने समझा कि मालकिनी को कहां पर पीड़ा है, कि यह जवान स्त्री को नहीं रखतीं। तब मैं ने प्रतिज्ञा की कि जितने दिन यहां रहूंगी, उधर भूल कर भी कभी पांव न दूंगी।

फिर किसी और समय लोगों से मैं ने इस बात की टोह ली थी कि मालिक की कैसी चालचलन है। सभी यह बात कहते और जानते थे कि वे बड़े भलेआदमी और जितेन्द्रिय हैं। पर उस स्याही के बोतल के हाड़ २ में स्याही भरी थी।

ब्राह्मणी के फिर आने पर मैं ने उस से पूछा कि, "मालिक ने रसोई खा कर क्या कहा ?"

यह सुनते ही ब्राह्मणी चिढ़ कर लाल हो गई और चिल्ला कर कहने लगी,—"हां! हां! बहुत अच्छी रसोई बनाई है, बहुत अच्छी। हमलोग भी बनाना जानती हैं, पर बूढ़ी का अब

मोल (आदर) कहां है? अब रसोईदारी करने के लिये रूप यौवन भी चाहिये।

उसकी बातों से मैं ने समझ लिया कि मालिक ने रसोई खाकर सराहा है। किन्तु उस ब्राह्मणी के संग ज़रा मसखरी करने की साध हुई, मैं बोली,—"हां मिसराइन जी! रूप यौवन तो अवश्य ही चाहिये—क्योंकि बुड्ढी को देख कर फिर क्या खाने को जी चाहता है?"

यह सुन दांत निकाल कर बड़े कर्कश स्वर से उस ने कहा,—"जान पड़ता है कि तुम्हारा रूप यौवन सब दिन ऐसा ही बना रहेगा—मुंह में कीड़े न पड़ेंगे?"

यह कह कर क्रोध में लहकी हुई मिसराइन गईं तो एक हांडी चढ़ाने पर उसे फोड़ बैठीं। तब मैं ने कहा,—"देखो, मिसराइन! रूप यौवन न रहने पर हाथ की हांडी भी फूट जाती है।"

तब तो मिसराइन आधी नंगी सी हो कर, संड़सी उठा झझकती हुई मुझे मारने दौड़ीं। बुढ़ापे के दोष से कान से ज़रा वह कम सुनती होंगी, इससे जान पड़ता है कि वे मेरी सब बातें न सुन सकीं। उन्हों ने मुझे बहुत ही खराब जवाब दिया। मेरा भी कौतूहल बढ़ा—मैं ने कहा,—"मिसराइन! चुप रहो, बेड़ी * (संड़सी) का हाथ में ही रहना अच्छा है।"

इसी समय सुभाषिणी उस घर के भीतर पैठी, पर ब्राह्मणी ने मारे क्रोध के उसे देखा नहीं और मुझ पर और भी झपट कर

* बंगला में बेड़ी से दो अभिप्राय हैं, संड़सी और बेड़ी। अनुवादक।

कहा—"हरामज़ादी! जो तेरे मुंह में आवेगा, सोई बोलेगी। क्या पैरों में बेड़ी डालेगी? क्या मैं पगली हूं?"

तब सुभाषिणी ने भौंहें तान कर उस से कहा—

"मैं इन्हें ले आई हूं, तुम हरामज़ादी कहनेवाली कौन? अभी हमारे घर से बाहर निकलो।"

तब तो रसोईदारिन डर के मारे संड़सी दूर फेंक कर रोनी सी हो कर कहनेलगी—

"अरे दैया, रे दैया! यह क्या कहती हो? मैं ने हरामज़ादी कब कहा? ऐसी खोटी बात तो मैं कभी ज़बान पर लाती ही नहीं। तुम ने तो आश्चर्य किया!"

यह सुन सुभाषिणी खिलखिला उठी, तब मिसराइन जी ने फूट फूट कर रोना प्रारंभ किया और कहा—

"मैं ने जो हरामज़ादी कहा हो तो मैं गल जाऊंगी"—

(मैं ने कहा,—तुम्हारा बलाय गले, अभी गोड़ घिसो)

"मैं नरक में जाऊं—"

(मैं,—"यह क्या, मिसराइन! इतनी जल्दी? छिः छिः! और दो दिन ठहर जाओ न")

"मुझे तब नरक में भी ठौर न मिले—"

इस बार मैं ने कहा,—"ऐसी बात न कहो, मिसराइन! यदि नरक के लोगों ने तुम्हारा बनाया व्यंजन न खाया तो फिर नरक कहां रहा?"

तब तो बुढ्ढी ने कलप कर सुभाषिणी से मुझ पर नालिश की,—"यह जो मन में आवेगा, सोई मुझे कहेगी, और तुम इसे कुछ कहोगी नहीं? तो, लो! मैं मालकिनी के पास जाती हूं।"

सुभाषिणी—"मिसराइन जी! तब तो मुझे भी यह कहना पड़ेगा कि मिसराइन ने इन्हें हरामज़ादी कहा है।"

यह सुन बुढ़िया आप ही अपने गालों में तमाचा मारने लगी,—"मैं ने कब हरामज़ादी कहा? (एक थप्पड़) मैं ने कब हरामज़ादी कहा? (दो थप्पड़) मैं ने कब हरामज़ादी कहा???" (तीन थप्पड़) इति श्री।

तब हमलोगों ने बूढ़ी से ज़रा मीठी बातें करनी प्रारंभ कीं। पहिले मैं ने कहा—

"हां जी, बहुरिया! हरामज़ादी कहते तुम ने कब सुना? इन्हों ने कब यह बात कही? ऐं! मैं ने तो नहीं सुना।"

तब बुढ़िया बोल उठी, "लो, सुनो, बहुरिया! भला मेरे मुंह से ऐसी बात निकल सकती है?"

सुभाषिणी ने कहा—"ऐसा ही होगा—बाहर कोई किसी को कहता था, वही बात मेरे कान में गई होगी। मिसराइन ऐसी लोग नहीं हैं। उन का पकाया कल खाया था कि नहीं? इस कलकत्ते के भीतर ऐसी रसोई कोई नहीं बना सकता।"

तब ब्राह्मणी ने मेरी ओर देख कर कहा,—"क्यों जी, सुना न?"

मैं ने कहा—"ऐसा तो सभी कहते हैं, मैं ने ऐसी रसोई कभी नहीं खाई थी।"

तब तो बुढ़िया खिलखिला कर बोली, "लो बेटी! तुम लोग तो ऐसा कहोहीगी! क्योंकि तुम लोग भले आदमी की लड़की हो, इस कारण रसोई की परख रखती हो। अहा! ऐसी लड़की

को क्यों मैं गाली दे सकती हूं? यह किसी बड़े घराने की लड़की है। बचवा! तुम किसी बात का सोच न करो, मैं तुम्हें रसोई पानी करना सिखा कर जाऊंगी।"

बुढ़िया के साथ इसी भांति मेल हो गया। मैं बहुत दिनों से केवल रोती ही रहती थी, पर आज बहुत दिनों पर हंसी आई। ऐसा हंसीठट्ठा दरिद्र के धन के समान बहुत ही मीठा लगा था, इसी लिये बुढ़िया की बातें इतने विस्तार से लिखीं। इस हंसी को मैं इस जन्म में कभी न भूलूंगी, और न कभी हंस कर वैसा सुख ही पाऊंगी।

फिर मालकिनी भोजन करने बैठीं। मैं भी बैठ कर यत्नपूर्वक उन्हें खिलाने लगी। निगोड़ी ढेर सा गटक कर अन्त में बोली—

"अच्छा तो पकाती हो, जी! यह सब कहां सीखा?"

मैं ने कहा—नैहर में।

मालकिनी—तुम्हारा नैहर कहां है?

इस पर मैं ने एक झूठी बात कह दी। फिर उन्हों ने कहा—"यह तो धनवानों के घर की सी रसोई बनी है। तुम्हारे बाप क्या बड़े आदमी थे?"

मैं—हां, थे।

मालकिनी—तब तुम रसोईदारी करने क्यों आई?

मैं—दुर्दशा में पड़ कर।

मालकिनी—"अच्छा तो मेरे यहां रहो, अच्छी तरह रहोगी। तुम बड़े आदमी की लड़की हो, सो मेरे घर भी उसी भांति रहोगी।

फिर उन्हों ने सुभाषिणी को बुला कर कहा,—"रानी! देखो, इसे कोई कड़ी बात न कहने पावे—और तुम तो कभी कहोहीगी नहीं, क्योंकि तुम वैसे आदमी को वेसी नहीं हो।"

सुभाषिणी का बालक वहीं बैठा था, सो बोल उठा,—

"मैं कली बात कऊंगा।"

मैं ने कहा—"कहो तो सही!"

उस ने कहा—कली गाली छाली (साली), और क्या मा?

सुभाषिणी ने कहा—और तेरी सास।

बच्चा बोला—क आं (कहां) का छ?

तब सुभाषिणी की लड़की ने मुझे दिखला कर कहा,—"यही तेरी सास है।"

तब बच्चा कहने लगा—"कुनुडिनी (कुमुदिनी) छाछ! कुनुडिनी छाछ!"

सुभाषिणी मेरे साथ एक नाता लगाने के लिये छटपटा रही थी, सो अपने बेटे बेटियों के मुख से ऐसी बात सुन कर मुझ से बोली—

"तो आज से तुम मेरी समधिन हुई।"

फिर वह खाने बैठी, और मैं भी उस के पास खिलाने बैठी। खाते खाते उस ने दिल्लगी से पूछा,—

"क्यों समधिन! तुम्हारे कै ब्याह हुए हैं?"

मैं उस का चोज़ समझी, बोली,—"क्यों? यह रसोई क्या द्रौपदी की सी बनी है?"

सुभाषिणी—" ओ, बस। बीबो पाण्डव फ़ुष्ट क्लास बाबर्ची थी। कहो, अब मेरी सास को तुम ने चोन्हा ?"

मैं ने कहा—"हां, चीन्हा; कंगाल और बड़े आदमी की लड़कियों में सभो लोग कुछ प्रभेद मानते हैं।"

इस पर सुभाषिणी हंस पड़ी और बोली,—"दूर हो वे पगली कहां की ! बस इसी बुद्धि पर कहती हो कि 'हां चीन्हा !' तुम्हें बड़े आदमी की लड़की समझ कर क्या उन्हों ने तुम्हारा आदर किया है ?"

मैं ने कहा—तब क्या ?

सुभाषिणी—उन के बेटा पेट भर खायंगे, इसी से तुम्हारा इतना आदर है। अब यदि तुम ज़रा हठ करो तो चट तुम्हारा मुशाहरा दूना हो जाय।

मैं ने कहा—"मैं मुशाहरा नहीं चाहती। उस के न लेने से यदि कोई टंटा खड़ा हो, इसी लिये हाथ फैला कर उसे ले लूंगी और ले कर तुम्हारे पास जमा कर दूंगी; तुम उसे ग़रीब कंगालों को दे देना। मैं ने रहने का ठिकाना पाया है, बस मेरे लिये इतना ही बहुत है।"

——o:*:o——

नवां परिच्छेद।

पके केश का सुख दुःख !

मैं ने आश्रय पाया, और पाया एक अनमोल रत्न हितैषिणी सखी। मैं देखने लगी कि सुभाषिणी मुझे हृदय से चाहने लग

गई थी। अपनी बहिन के संग जैसा बर्त्ताव करना चाहिये, मेरे साथ भी वह वैसा ही बर्त्ताव करती। उस के दाब से दाई लौंडी भी मेरा अनादर नहीं कर सकती थी। इधर रसोई पानी में भी मुझे सुख हुआ। वह बूढ़ी ब्राह्मणी—जिस का नाम सोना को मा था, घर नहीं गई। उस ने मन में यह सोचा होगा कि 'घर जाने से फिर यह नौकरी न पाऊंगी और यह (कुमुदिनी) सदा के लिये कायम हो जायगी। बस, वह यही सोच साच कर अनेक पाखंड फैला कर के घर न गई। और सुभाषिणी की सिफ़ारिश से हम दोनों ही जनी रह गईं। उस ने अपनी सास को समझा दिया कि "कुमुदिनी भले आदमी की लड़की होकर अकेली सारी रसोई न कर सकेगी और बुढ़िया सोना की मा भी अब कहां जायगी?" इस पर बूढ़ी ने कहा;—"तो दोनों जनों को क्या मैं रख सकती हूं? इतने रुपये कहां से आवेंगे?"

बहू ने कहा—"तो एकही को रखना हो तो सोना की मा को रखिये क्योंकि कुमुदिनी इतना काम नहीं कर सकेगी।"

मालकिनी ने कहा—"नहीं, नहीं! सोना की मा का बनाया मेरा बच्चा नहीं खा सकता। अच्छा तो दोनों जनी रहें।"

अहा! मेरा कष्ट दूर करने के लिये ही सुभाषिणी ने यह चाल चली थी। मालकिनी उस के हाथ में कल की पुतली सी थीं, क्यों न हो—वह रमण बाबू की स्त्री थी न! तो उस की बात टालने का किस का सामर्थ्य था? इतने पर फिर सुभाषिणी की बुद्धि जैसी तीखी थी, स्वभाव भी वैसा ही सुन्दर था। ऐसी

सहेली को पा कर उस दुःख के समय में भी मुझे कुछ सुख हुआ।

बस मैं केवल मछली मांस पकाती या और कोई दो एक अच्छी तरकारी बनाती थी और बाकी समय में सुभाषिणी के साथ गप्प करती—उस के बेटे बेटी के साथ कहानी कहती या कभी स्वयं मालकिनी ही के संग ज़रा चुहुलबाज़ी करती—यही मेरा काम था। पर अन्त वाले काम से एक बड़े झमेले में मैं पड़ गई। मालकिनी समझती थीं कि 'अभी तो मेरी कच्ची उमर है, केवल भाग्य के फेर से थोड़े से बाल पक गये हैं, सो यदि पके केश उखाड़ दिये जायं तो मैं फिर जवान हो सकती हूं।' इसी से वे अवसर पाते ही जिसे खाली देखें उसी से पके बाल उखड़वाने बैठतीं। एक दिन उन्हों ने इस काम के लिये मुझे बेगार में पकड़ा। मैं हाथ चलाने में तेज़ थी। सो जल्दी २ बरसाती घास के समान केश साफ़ करती थी। दूर से देख कर सुभाषिणी ने मुझे अंगुली के इशारे से बुलाया। तब मैं मालकिनी से छुट्टी ले कर वहू के पास गई। उसने कहा—

"यह क्या करती थी? मेरी सासू जी को सिरगंजी क्यों किये डालती थी?"

मैं ने कहा—"इस पाप को एक ही दिन में दूर कर डालना अच्छा है।"

सुभाषिणी—ऐसा करने पर फिर क्या टिकने पाओगी? तो फिर जाओगी कहां?

मैं—पर मेरा हाथ तो रुकता ही नहीं।

सुभाषिणी—मर ! दो पक बाल उखाड़ कर उठ क्यों न आती ?

मैं—तुम्हारी सास छोड़े तब तो ?

सुभाषिणी—कहो कि—'ऐं ! पके बाल बहुत तो नहीं दिखलाई देते'—यही कह कर चली आओ।

मैंने हंसकर कहा, "दिन दोपहर क्या ऐसी डकैती की जा सकती है ? लोग क्या कहेंगे ? यह मानों मेरी कालीदीघी की डकैती ठहरी !"

सुभाषिणी—कालीदीघी की डकैती कैसी ?

अरे ! सुभाषिणी के संग बात करते करते मैं कुछ आत्मविस्मृत हो जाया करती थी—सोई एकाएक काली दीघी की बात असावधानी में मेरे मुंह से निकल गई। पर उस बात को मैं दबा गई और बोली, "वह कहानी फिर किसी दिन कहूंगी।"

सुभाषिणी—अच्छा मैं ने जो कहा है, उसे ज़रा एक बार मेरे अनुरोध से कह के देखो न !

यह सुन हंसती हंसती मैं मालकिनी के पास जाकर फिर पके बाल उखाड़ने लगी। और दो चार बाल उखाड़ कर बोली,—"ऐं ! अब तो अधिक पके बाल नहीं दिखलाई देते ! बस दो एक और बच रहे हैं, उन्हें कल निकाल दूंगी।"

यह सुन निगोड़ी खिलखिला कर हंसी और बोली, "और २ छोकड़ियां कहती हैं कि सारे बाल पक गये।"

उस दिन मेरा आदर बढ़ गया, पर मैंने मनहीं मन यह प्रतिज्ञा की कि ऐसा बन्दोबस्त करना चाहिये कि जिस में प्रति दिन बैठ

कर पके बाल न उखाड़ने पड़ें। महीने के रुपये जो मैंने पाये थे उन में से एक रुपया हारानी को दिया और कहा कि "इस का एक शीशी खिज़ाब किसी से मोल मंगवा दे।" सुनतेही निगोड़ी हारानी हंसी के मारे लोटने लगी। और हंस कर बोली,—"खिज़ाब लेकर क्या करोगी? किस के बालों में लगाओगी?"

मैं—मिसराइन जी के।

इस बार तो हारानी हंसते हंसते लोटने लगी। ठीक उसी समय मिसराइन वहां आ पड़ी। तब वह हंसी रोकने के लिये मुंह में कपड़े ठूंसने लगी। पर जब किसी प्रकार हंसी नहीं रुक सकी तब वहां से भाग चली। मिसराइन ने कहा,—"वह इतनी हंस क्यों रही है?"

मैं ने कहा—"उसे और तो कोई काम हई नहीं, अभी मैं ने कहा था कि मिसराइन जी के बालों में खिज़ाब लगा दूं तो कैसी हो? बस इसी बात पर इतनी फूट रही है।"

मिसराइन—तो इतनी हंसी किस लिये? उस के लगाने से हानि क्या है? सन की आंटिया सन की आंटिया कह कर लड़के पागल किये डालते हैं, सो उस आफ़त से तो बचूंगी?

यह सुन सुभाषिणी की लड़की हेमा ने तुरत कविता पढ़ना प्रारंभ किया—

चले बूढ़ी सन की आंटिया,
जूड़े में खोंसे फूल।
हाथ में लाठी गले में फांसी,
कान जोड़ा कनफूल॥

हेमा के भाई ने कहा,–"कल पूल।" तब किसी के ऊपर जोलाहे की कल (करगा) पड़ने की आशंका से सुभाषिणी उसे खींच कर ले गई।

मैं ने समझ लिया कि मिसराइन को खिज़ाब लगाने की बड़ी लालसा है। मैं ने कहा,—

"अच्छा, मैं खिज़ाब लगा दूंगी।"

मिसराइन ने कहा,—"अच्छा, सोई करना। तुम जीती रहो, तुम्हारे सोने के गहने हों, तुम खूब रांधना सीखो।"

हारानी केवल हंसनेवाली ही न थी, वरन बड़े काम की औरत थी, उस ने शीघ्र ही एक शीशी खिज़ाब ला दिया। मैं उसे हाथ में ले कर मालकिनी के पके बाल उखाड़ने गई। उन्हों ने पूछा,—"हाथ में क्या है?"

मैं ने कहा,—"एक अरक है। इस को बालों में लगाने से सब पके बाल गिर जाते हैं और काले रह जाते हैं।"

मालकिनी ने कहा,—'भला! ऐसे अचरजवाले अरक का हाल तो कभी नहीं सुना। अच्छा, लगाओ तो देखूं। देखना, खिज़ाब मत लगा देना।"

मैं ने अच्छी तरह से उन के बालों में खिज़ाब लगा दिया। और लगा कर "पके बाल अब नहीं रहे" यह कह कर वहां से मैं चली आई। नियमित समय के बीत जाने पर उन के सारे बाल काले हो गये। दुर्भाग्यवश झाड़ू देती देती हारानी ने यह देख लिया, तब वह झाड़ू फेंक, मुंह में कपड़े ठूंसती हुई सदर फाटक की ओर भागी। वहां पर, "क्या हुआ दाई! क्या हुआ,

दाई !" इसी का एक हल्ला मचा; सब वह फिर घर के अन्दर भाग कर मुंह में कपड़े ठूंसती ठूंसती छत के ऊपर चढ़ गई। वहां पर सोना की मा बाल सुखा रही थी उस ने पूछा,—" क्या हुआ है, री ! " पर हंसी के वेग से हारानी बोल न सकी, केवल हाथ के इशारे से माथा दिखलाने लगी। सोना की मा ने जब कुछ न समझा तो नीचे आकर देखा कि मालकिनी के माथे के सारे बाल काले हो गये हैं, यह देख वह पुका फाड़ कर रो उठी और बोली, —"अरे, माई, री माई ! यह क्या हुआ जी ! तुम्हारे सिर के सब बाल काले हो गये ! अरे दैया ! न जानूं किस ने दवा लगा दिया ! "

इतने ही में सुभाषिणी ने आकर मुझे पकड़ा और हंसते हंसते कहा,—" मुंहझौंसी ! यह क्या किया ? मा जी के बालों में खिज़ाब लगा दिया ?"

मैं—हुं।

सुभाषिणी—तेरे मुंह में आग लगे, अब देख कि कैसा उत्पात होता है।

मैं—तुम निश्चिन्त रहो।

इतने ही में मालकिनी ने खुद मुझे बुलाया और कहा,—

" एजी ! कुमुदिनी ! तुम ने क्या मुझे खिज़ाब लगा दिया ?"

मैं ने देखा कि उन का मुखड़ा प्रसन्न है; फिर कहा,—

" ऐसी बात किस ने कही, मा ! "

मालकिनी—यही सोना की मा तो कहती है !

मैं—सोना की मा क्या जानती है? वह खिज़ाब नहीं है, मेरी दवा है।

मालकिनी—बहुत ही अच्छी दवा है, बेटी! ज़रा एक आईना तो ले आ, देखूं!

तब मैं ने एक आईना ला दिया। अपना मुखड़ा देखकर मालकिनी ने कहा,—"अरे दैया! सारे बाल काले काले होगये! अरे निगोड़ी! सभी लोग कहेंगे कि खिज़ाब लगाया है।"

मालकिनी के मुख के दांत हंसी के मारे छिपते न थे, उसी दिन संध्या पीछे मेरी रसोई की बड़ाई कर के उन्हों ने मेरा मुशाहरा बढ़ा दिया; और कहा,-"बेटी! तुम्हारे हाथों में केवल कांच की चूड़ी देख मुझे कष्ट होता है।" यह कह कर उन्हों ने अपने बहुत दिनों के उतारे हुए एक जोड़ी सोने के कड़े मुझे बख़्शिश दिये। लेती बार मानो मेरा सिर कट गया और आंखों का आंसू मैं न रोक सकी। इस लिये लाचारी से "न लूंगी" यह कहने का मैंने अवसर ही न पाया।

समय देख कर बूढ़ी मिसराइन ने मुझे घेरा और कहा— "बेटी! वह औषध और है कि नहीं?"

मैं-कौन औषध? क्या वही जो मालकिनी को उन के स्वामी के बस करने के लिये दी थी?

मिसराइन—दूर हो! इसी को कहते हैं, लड़कपन की समझ! मेरे पास क्या वह सामग्री है?

मैं-नहीं है? यह कैसी बात है? क्या एक भी नहीं है?

मिसराइन—जान पड़ता है कि तुम लोग पांच ठो करती होगी!

मैं—क्या बिना कियेही ऐसा रांधती हूं? बिना द्रौपदी बने क्या अच्छी रसोई बन सकती है? इस लिये पांच ठो जुटाओ न, फिर देखना कि तुम्हारे हाथ की रसोई खाकर लोग अज्ञान हो जायंगे।

यह सुन मिसराइन ने एक लंबी सांस ली, फिर कहा—

"भई! एक तो जुटता ही नहीं, तिस पर पांच! मुसलमानों में ऐसा होता है, पर जितना अपराध है वह सब हिन्दुओं की ही लड़कियों का! और होगा भी कैसे? यही तो सन की लच्छी साबाल है! इसी से कहती थी; और फिर कहती हूं कि वह औषध और है, जिस से बाल काले हो जाते हैं?

मैं—हां, यह कहो। है क्यों नहीं?

फिर मैं ख़िजाब की शीशी मिसराइन जी को दे आई। उन्हों ने रात को खा पी कर सोने के समय अंधेरे ही में उसे बालों में लगा लिया; जिस से कुछ बाल में तो लगा और कुछ में न लगा। और कुछ आंख, कान और मुंह में भी लग गया। सवेरे की बेला जब उन्हों ने दर्शन दिया तो उन का बाल पंचरंगी बिल्ली के रोएं की भांति कुछ सादा, कुछ रंगीन और कुछ काला; और चेहरा कुछ कुछ लंगूर बंदर और कुछ मेनी बिल्ली की भांति झलकने लगा। यह देखते ही घर के सभी छोटे बड़े खिलखिला कर हंस पड़े। वह हंसी थम्हती ही न थी। जब जो मिसराइन को देखता, तभी हंस

पड़ता। हारानी हंसती हंसती अधमरी हो कर सुभाषिणी के पैर तले पछाड़ खा कर हांफती हांफती कहने लगी,–" दुलहिन ! मुझे जवाब दो, मैं ऐसे हंसी के घर में अब नहीं रह सकती— क्योंकि किसी दिन दम बंद होने से मर जाऊंगी।"

सुभाषिणी की लड़की ने भी मिसराइन को चटकाया, कहा,– " बूढ़ी बुआ ! यह साज किस ने संवारा ?

कहा यमने, सोने के चांद !
खला था, मेरे घर में फांद।
इसी से दिया चिता का साज,
लगा, गोबर-सेंदुर से आज॥"

एक दिन एक बिल्ली ने हांड़ी में से मछली खाई थी, सो उस के मुंह में हांड़ी का करखा लग गया था। सुभाषिणी के बच्चे ने उसे देखा था, सो बूढ़ी को देख कर कहने लगा,–" मा ! बूढ़ी बुआ आती जाती है।" (बूढ़ी बुआ ने हांड़ी चाटी है।)

इतना सब कुछ हुआ, पर मेरे इशारे के अनुसार मिसराइन से किसी ने भी असत्य बात का भेद न कहा। और वह बिना संकोच अपनी उस बानर-मार्जार विमिश्रित कान्ति सब के सामने विकसित करने लगी। हंसी देख कर वह सब से पूछने लगी कि,–" तुम लोग इतना हंसती क्यों हो ?"

इस पर सभी मेरे इशारे के अनुसार कहते कि,—" यह बच्चा क्या कह रहा है, सुनती क्यों नहीं ? यह कहता है कि 'बूढ़ी बुआ ने हंड़िया चाटी है।' कल रात को कोई तुम्हारे रसोई घर की

हांड़ी चाट गया है, सो सब कोई कानाफूसी कर रहे हैं। अरे! हम तो यह कहती हैं कि भला सोना की मा बूढ़ी उमर में क्या ऐसा काम करेंगी?"

तब तो बूढ़ी ने गाली के लच्छे छोड़ने आरंभ किये, कहा—"सत्यानासिन, सतभतरिन, अभागिन" इत्यादि, इत्यादि। मन्त्रोच्चारण कर के और उन सभों के, और उन सब के पति पुत्र आदि के ग्रहण करने के लिये यम को कई बार उस ने न्योता दिया किन्तु यमराज ने उस विषय में तुरत कोई आग्रह प्रकाश न किया। मिसराइन का चेहरा वैसा ही बना रहा। वह उसी दशा से रमण बाबू को रसोई परोसने गई, उसे देख हंसी के वेग को रोकने में उन की ऐसी दशा हो गई कि फिर उन से खाया न गया। मैं ने सुना कि जब वह रामराम दत्त को भात देने गई तो उसे उन्हों ने दुरदुरा कर खदेड़ दिया।

अन्त में सुभाषिणी ने दया कर के बूढ़ी से कह दिया कि—"मेरे कमरे में बड़ा आईना लटक रहा है, सो जाकर उस में अपना मुंह देख आओ।"

बूढ़ी ने जाकर मुख देखा, तब तो वह डाढ़ें मार कर रोने और मुझे गाली देने लगी। मैं ने उसे समझाने के लिये बहुत कुछ चेष्टा की और कहा कि मैं ने बालों में लगाने के लिये कहा था, न कि मुंह में; पर बूढ़ी ने मेरी एक न सुनी। मेरे सिर के खाने के लिये वह बार बार यमराज को न्योता देने लगी, जिसे सुन कर सुभाषिणी की लड़की ने कविता बघारी,—

"बुलाता, बार बार जो यम।
आयु उस की होती है, कम॥

पड़े उस के मुखड़े पर धूल।

अरी ! मरजा, बुड्ढी ! चंडूल ! ! !

अन्त में मेरे उस तीन बरस के जामाता ने एक जसी लकड़ी उठा कर बूढ़ी के पीठ पर जड़ दी और कहा, "मेली छाछ ! मेली छाछ।" (मेरी सास, मेरी सास,) तब तो बुढ़िया पछाड़ खा कर चिल्ला चिल्ला कर रोने लगी। वह जितना ही रोती, मेरा दामाद उतना ही ताली बजा बजा कर नाचता हुआ कहता—"मेली छाछ, मेली छाछ।" तब मैं ने जा कर उसे गोद में ले उस का मुख चूमा, तब वह चुप हुआ।

दशवां परिच्छेद।

आशा का प्रदीप !

उसी दिन तीसरे पहर सुभाषिणी ने मेरा हाथ थाम्ह खींच ले कर अकेले में बैठाया और कहा,—"समधिन ! तुम ने उस दिन काली दीघी की डकैती की कहानी कहने कही थी—सो आज तक नहीं कही। तो आज उसे कहो न—सुनूं।"

यह सुन मैं ने थोड़ी देर तक सोचा, फिर अंत में कहा,—" वह मेरे ही दुर्भाग्य की कहानी है। मेरे बाप बड़े आदमी हैं, यह बात मैं कह चुकी हूं, तुम्हारे ससुर भी अमीर हैं, पर उन के आगे कुछ नहीं हैं। मेरे बाप अभी जीते हैं, उन का वह अतुलऐश्वर्य आज दिन भी है, आज भी उन के हाथीखाने में हाथी बंधे हैं। तब मैं जो रसोईदारी कर के पेट पालती हूं, इस का कारण कालीदीघी की डकैती ही है।"

यहां तक कह कर हम दोनों ही जनी चुप हो गईं, फिर सुभाषिणी ने कहा,—

"भई! तुम्हें यदि कहने में कष्ट हो तो मत कहो। न जानने के कारण ही मैं सुनना चाहती थी।"

मैं ने कहा—"सब कुछ कहूंगी। तुम जो मुझ से स्नेह करती हो, तुम ने जैसा मेरा उपकार किया है, इस कारण से तुम्हें उस बात के जनाने में मुझे कोई कष्ट न होगा।"

मैं ने बाप का नाम न बतलाया, और न उन के घर या गांव का ही नाम बतलाया। अपने पति या ससुर का भी नाम न बतलाया और न अपने ससुराल के गांव ही का नाम बतलाया। इस के अलावे और सारी बात खोल कर सुना दी। उस के संग भेंट होने तक का सारा हाल कह सुनाया। सुनते सुनते वह रोने लगी और मैं भी जो कहते कहते बीच बीच में रोई थी, इस का कहना ही क्या?

उस दिन तो यहीं तक बातचीत हुई, दूसरे दिन सुभाषिणी फिर मुझे अकेले में ले गई और बोली—"तुम को अपने बाप का नाम बतलाना होगा।"

मैं ने बतला दिया।

सुभा०—उन का घर जिस गांव में है, वह भी बतलाना पड़ेगा।

सो भी बतलाया।

सुभा०—डाकघर का नाम बतलाओ।

मैं—डाकघर! डाकघर का नाम डाकघर।

सुभा०—दुर, मुंहझौंसी ! जिस गांव में डाकघर हो, उस का नाम बतलाओ।

मैं—सो तो जानती नहीं, डाकघर ही जानती हूं।

सुभा०—अरे, मैं यह कहती हूं कि जिस गांव में तुम्हारा घर है, उसी गांव में ही डाकघर भी है या दूसरे गांव में।

मैं—सो तो नहीं जानती।

तब तो सुभाषिणी उदास हुई और फिर कुछ न बोली। दूसरे दिन उसी भांति अकेले में बोली—

"तुम बड़े घराने की लड़की हो, सो अब कब तक रसोईदारी करोगी ? तुम्हारे जाने से मैं बहुत रोऊंगी—किंतु अपने सुख के लिये तुम्हारे सुख की हानि करूं, ऐसी पापिन मैं नहीं हूं। सोई हमलोगों ने परामर्श किया है—"

बात पूरी होते होते बीच ही में मैं पूछ बैठी कि,—

"हमलोग कौन कौन ?"

सुभाषिणी—"मैं और र-बाबू।"

र-बाबू अर्थात् रमण बाबू। वह इसी प्रकार मेरे आगे अपने दूल्ह का नाम लेती थी। फिर वह कहने लगी—

"परामर्श किया है कि तुम्हारे बाप को पत्र लिखें कि तुम यहां हो। सोई कल डाकघर की बात पूछती थी।"

मैं—तो क्या वे सब बातें उन से कही हैं ?

सुभा०—कहा तो है—इस में दोष क्या है ?

मैं—दोष कुछ भी नहीं है। हां, फिर क्या हुआ ?

सुभाषिणी—अभी, महेशपुर में ही डाकघर है, इस बात का

निश्चय कर के पत्र लिखा गया है।

मैं—क्या पत्र लिखा जा चुका है ?

सुभाषिणी—हां।

यह सुनते ही मारे आनंद के मैं फूली अंगों न समाई। फिर दिन गिनने लगी कि कितने दिनों में चिट्ठी का जवाब आता है, किन्तु कोई भी उत्तर न आया। मेरा करम जल गया था कि नहीं—महेशपुर में कोई डाकघर न था। उस समय गांव गांव में डाकघर नहीं खुले थे। डाकघर दूसरे गांव में था, पर मैं तो राजा की साली थी—इसलिये इतनी खबर नहीं रखती थी। डाकघर का पता न पाने से कलकत्ते के बड़े डाकघर में चिट्ठी खोली जाकर रमण बाबू के पास वापस आई।

मैं ने फिर रोना प्रारंभ किया, किन्तु र-बाबू छोड़नेवाले आदमी न थे, सुभाषिणी ने मुझ से आकर कहा—

" अब दुलहा का नाम बतलाना चाहिये "

तब मैं ने लिखना सीखा था। सो पति का नाम लिख दिया। फिर पूछा गया—

" ससुर का नाम ? "

उसे भी लिख दिया।

" गांव का नाम ? "

वह भी लिख दिया।

" डाकघर का नाम ? "

मैं बोली—सो क्या जानूं ?

सुना कि रमण बाबू ने यहां भी पत्र लिखा, किन्तु कोई उत्तर

न आया। तब तो मैं बहुत ही उदास हुई, किन्तु तब एक बात की मुझे याद आई। मैं ने आशा से विह्वल होकर पत्र लिखने को मना नहीं किया था, पर अब मेरे ध्यान में यह आया कि डाकू मुझे लूट ले गये थे; तो अब क्या मेरीजात बची हुई है? बस यही सोच विचार कर मेरे ससुर और पति ने मुझे त्याग दिया होगा, इस में कोई सन्देह नहीं है। इसलिये वहां पत्र का लिखना अच्छा न हुआ। यह बात सुन कर सुभाषिणी चुप हो गई।

तब मैं ने समझा कि अब मुझे कुछ भरोसा नहीं है। यह समझते ही मैंने खाट पकड़ी।

—*:*—

ग्यारहवां परिच्छेद।

एक चोरी की नज़र!

एक दिन सवेरे उठ कर मैं ने देखा कि आज ज़ियाफ़त की खूब तैयारी हो रही है। रमणबाबू वकील थे, उन के एक बड़े आदमी मुवक्किल थे; सो दो दिन से मैं सुन रही थी कि वे कलकत्ते आये हुए हैं। रमण बाबू और उन के पिता बराबर उन्हीं धनी महाशय के घर आया जाया करते थे। रमण बाबू के पिता जो उन के यहां बहुत आया जाया करते थे, इस का कारण यही था कि उन के साथ रमण बाबू के पिता का कारबार का संबंध था। सोई सुना कि उन्हीं धनी महाशय को आज दो पहर के समय भोजन करने के लिये न्योता दिया गया है। इसी से रसोई में आज कुछ विशेष तैयारी हो रहा है।

रसोई आदि अच्छी हो,—इस लिये उस के बनाने का बोझ मेरे सिर पड़ा। मैं ने भी बहुत यत्न से सारी चीज़ें बनाईं। भोजन का ठौर भीतर (ज़नानखाने में) ही किया गया। फिर रामबाबू, रमणबाबू और न्योतावाले अमीर ये तीनों साथही भोजन करने बैठे। उन लोगों के परोसने का भार बूढ़ी रसोईदारिन के ऊपर दिया गया, क्योंकि मैं बाहरी लोगों को कभी नहीं परोसती थी।

बूढ़ी परोसती थी और मैं रसोईघर में थी, इतनेही में एक हल्ला मचा। रमण बाबू बुढ्ढी को फटकार रहे थे। उसी समय रसोईघर की एक दाई ने आकर कहा—"यह तो जान बूझ कर आदमी को लजवाना है।"

मैं ने पूछा—"क्या हुआ है?"

दाई ने कहा—"बूढ़ी दादा बाबू की (बुढ़िया दाई रमण बाब को दादा बाबू कहती थी) थाली में दाल परोसती थी,—सो उन्हों ने देख कर उहूं! उहूं कर के हाथ से आड़ की, बस सारी दाल हाथ पर पड़ गई।"

और इधर मैं सुन रही थी कि रमण बाबू ब्राह्मणी पर झुंझला रहे हैं कि—"जो परोसने का शऊर नहीं है तो फिर क्यों आई? क्या और किसी दूसरे से नहीं परोसवाया जाता?"

फिर राम बाबू ने कहा—"बस, जाओ, यह काम तुम्हारा नहीं है, कुमुदिनी को भेज दो।"

मालकिनी तो वहां पर थींही नहीं, फिर मना कौन करता? और इधर खुद मालिक का हुकुम—तो उस (हुक्म) को रद कैसे

जानती थी। तब दो चार बार मैं ने बूढ़ी को समझाया और कहा कि—"जरा सावधान होकर परोसो और खिलाओ"—किन्तु मारे डर के फिर वह परोसने जाने के लिये राज़ी न हुई। लाचार, मैं हाथ धो, मुंह पोछ, साफ़ हो, साड़ी समेट और ज़रा घूंघट काढ़ कर परोसने गई। गई तो, पर यह कौन जानता था कि ऐसा बखेड़ा उठ खड़ा होगा? यह मैं जानती थी कि—मैं बड़ी समझदार हूं पर यह नहीं जानती थी कि सुभाषिणी मुझे एकही हाट में बेंच भी सकती है और ख़रीद भी सकती है।

यद्यपि मैं घूंघट काढ़े हुई थी, पर घूंघटपट से स्त्रियों का स्वभाव नहीं ढपता। सो मैं ने घूंघट के भीतर ही से एक बार न्योते हुए बाबू को देख लिया।

देखा कि उन की बयस लगभग तीस बरस के होगी वे गोरे रंग के और बहुत ही सुन्दर थे, जो देखने से सुन्दरियों के मन मोहनेवाले जान पड़ते थे। मैं बिजली की चकाचौंध की भांति ज़रा दुचित्ती हो गई और मांस का बर्तन लिये ज़रा ठिठकी रह गई। और मैं घूंघट के भीतर से उन्हें देखती थी, इतने ही में उन्हों ने भी मुंह ऊंचा किया और देख लिया कि मैं घूंघट के भीतर से उन की ओर निहार रही हूं। मैं ने तो कुछ जान बूझ या इच्छा कर के उन की ओर किसी तरह का बुरा इशारा नहीं किया था, क्योंकि उतना पाप इस (मेरे) हृदय में नहीं था। सो जान पड़ता है कि सांप भी जान बूझ या इच्छा कर के फन नहीं उठाता; और फन उठाने का समय होने पर वह (फन) आप ही आप उठ जाता है। सांप के हृदय में भी पाप न होता होगा।

तो जान पड़ता है कि ऐसा ही कुछ न कुछ न हुआ होगा। और जान पड़ता है कि उन्हों ने कुछ कुटिल कटाक्ष देखा होगा। पुरुष लोग कहा करते हैं कि—"अंधेरे में दिये की भांति घूंघट के भीतर सुन्दरियों के कटाक्ष बहुत ही तीखे देख पड़ते हैं।" तो जान पड़ता है कि उन्हों ने भी ऐसा ही कुछ देखा होगा। बस उन्हों ने ज़रा मुसकुरा कर सिर नीचा कर लिया। उस मृदु मुसकान को केवल मैं ने ही देखा, सो बस, सारा मांस उन के पत्तल पर उझल कर मैं वहां से चल दी।

मैं ज़रा लजा गई और दुखी भी हुई। क्योंकि मैं सोहागिन होने पर भी जन्म की रांड़ थी। केवल ब्याह के समय एक बार ज़रा सा अपने दूलह का मुख देखा था। जवानी के सारे चसके मन के मन ही में भरे थे। सो ऐसे गहरे पानी में लग्गी डालने से लहर उठी जान कर मैं बड़ी दुखी हुई। मन ही मन मैं ने स्त्री के चोले को हज़ार बार धिक्कारा, मन ही मन अपने को भी कोटि २ धिक्कार दिया और मन ही मन मैं मरमिटी।

रसोईघर में लौट आकर मेरे मन में यों आया कि शायद मैं ने इन्हें पहिले कहीं देखा है। सो उस दुबिधा के दूर करने की इच्छा से फिर मैं आड़ में से उन्हें देखने लगी। खूब अच्छी तरह से देखा और देख कर मन ही मन कहा—

"चीन्ह लिया।"

इसी समय बाबू ने फिर और और सामग्री के ले जाने के लिये मुझे पुकारा। मैं ने कई तरह के मांस पकाये थे, सो सब ले गई। मैं ने देखा कि उन्हों ने मेरे उस कटाक्ष को याद कर रक्खा।

है। कोई रामराम दत्त ने कहा,—'राम बाबू ! अपनी रसोई-दारिन से कहिये कि पाक बहुत ही सुन्दर, स्वादिष्ट और अपूर्व बना है।"

परन्तु राम बाबू भेद की बात तो कुछ जानते ही न थे, सो बोले,—"हां! यह बहुत अच्छी रसोई बनाती है।"

मैं ने मन ही मन कहा—"तुम्हारा सिर पकाती हूं।"

न्कोतहरी बाबू ने कहा—"किन्तु यह बड़े अचम्भे की बात है कि आप के यहां दो एक सामग्री हमारे देश की रीति के अनुसार बनी है।"

इस पर मैं ने मन ही मन कहा—"बस, पहचान लिया" क्योंकि सचमुच दो एक व्यंजन मैं ने अपने देश की रीति के अनु-सार ही बनाये थे।

रामबाबू ने कहा—"ऐसा ही होगा। क्योंकि इस का घर इस जवार में नहीं है।"

उन्हों ने यहीं पर संधि पाई और एक बार मेरे मुखड़े की ओर ताक कर पूछा—"क्यों जी! तुम्हारा घर कहां है?"

पहिले मैं ने मन ही मन विचार किया कि बोलूं या नहीं? फिर निश्चय कर लिया कि ज़रूर बोलूंगी।

फिर मैं ने सोचा कि सच कहूं या झूठ? इस पर भी विचार कर लिया कि झूठ कहूंगी। क्यों ऐसा सोचा? यह बात वेही समझ सकते हैं, जिन्हों ने स्त्रियों के हृदय को चातुर्यप्रिय और चक्रगामी बनाया है। मैं ने सोच लिया कि काम पड़ने पर सच

कहना तो मेरे हाथ हई है। पर अभी ज़रा अट्ट सट्ट कह कर देखूं कि क्या होता है। यही सब सोच विचार कर मैं ने जवाब दिया–

"मेरा घर 'कालीदीघी' है।"

यह सुनतेही वे चिहुक उठे। और थोड़ी देर ठहर कर धीमे स्वर से बोले—' कौन सी कालीदीघी? क्या डकैतों की कालीदीघी?'

मैं ने कहा–'हां'।

फिर वे कुछ न बोले।

मैं मांस का वर्त्तन लिये खड़ी रही, और वहां पर खड़ी रहना मुझे उचित न था, यह बात भूल गई थी। अरे! अभी मैं ने अपने को हज़ार वार धिक्कार दिया था, सो भी भूल गई। मैंने देखा कि मेरे जवाब सुनने के अनन्तर वे अच्छी तरह नहीं खाते थे। यह देख कर राम बाबू ने उन से पूछा—

'उपेन्द्र बाबू! भोजन करिये न' बस, इतना ही सुनना बाकी था। 'उपेन्द्रबाबू' इस नाम के सुनने के पहिले ही मैंने चीन्ह लिया था कि येही मेरे दूलह हैं।

मैं रसोई घर में जाकर वर्त्तन दूर फेंक बहुत दिनों पीछे ज़रा खुशी मनाने बैठी। रामबाबू ने पूछा कि, 'क्या गिरा?' क्योंकि मैंने मांस का वर्त्तन धम्म से पटक दिया था।

बारहवां परिच्छेद।

हारानी की हंसी बंद !

अब यहां से इस इतिहास में सैकड़ोंवार अपने दूलह के नाम लेने की आवश्यकता मुझे पड़ेगी, इसलिये अब तुम पांच जनी रसीली सुन्दरी इकट्ठी हो, कमेटी करके सलाह कर के मुझे बतला दो कि मैं किस शब्द का बर्त्ताव कर के उन का नाम लूं? क्या पांच सौ वार 'स्वामी' 'स्वामी' कह कर कान को चैली उड़ादूं? या 'जमाई बारिक' के दृष्टान्त के अनुसार पति को 'उपेन्द्र' कहना प्रारम्भ करूं? अथवा 'प्राणनाथ' 'प्राणप्यारे' 'प्राणधन' 'प्राणकान्त' 'प्राणेश्वर' 'प्राणपति' और 'प्राणाधिक' की लूट मचा दूं? हाय! जो हमलोगों के सब से बढ़ कर प्यारे संबोधन के पात्र हैं, जिन्हें छिन छिन में पुकारने की इच्छा होती है, उन्हें क्या कह कर पुकारूं, सो अभागे देश की भाषा में हई नहीं। मेरी एक सहेली, (दाई नौकरों की देखा देखी) अपने दूलह को 'बाबू' कह कर पुकारती थी—किन्तु खाली 'बाबू' कहते उसे मीठा नहीं लगा—इस लिये अपने मन के खेद मिटाने के लिये अन्त में उस ने अपने पति को 'बाबू राम' कह कर पुकारना प्रारंभ किया। मेरी भी इच्छा होती है कि मैं भी ऐसा ही करूं।

सांस के बर्तन को दूर फेंक कर मन ही मन स्थिर किया कि—"यदि विधाता ने खोये हुए धन को दिखलाया है तो फिर अब छोड़ना न चाहिये। इस लिये लड़कियों की भांति लज्जा कर के अपना सारा काम बिगाड़ना न चाहिये।"

यह सोच कर मैं ऐसी जगह जा कर खड़ी हुई कि भोजन-स्थान से बाहर के किते में जाने के समय जो इधर उधर निहारता हुआ जाय, वह मुझे देख सके। मैं ने मन ही मन कहा कि, जो ये इधर उधर ताकते हुए न जायं तो मैं समझ लूंगी कि मैं ने इस बीस बरस की बैस तक पुरुषों का चरित्र कुछ भी नहीं जाना। मैं साफ़ कहती हूं–"तुम लोग मुझे क्षमा करना कि मैं उस समय अपने सिर का कपड़ा भरपूर हटा कर खड़ी हुई थी। इस समय यह बात लिखते मुझे लाज आती है, पर उस समय मैं कैसी आफ़त में फंसी थी, उसे ज़रा विचार तो लो?"

आगे आगे रमण बाबू गये, वे चारों ओर देखते भालते गये, मानों झांक ताक की खबर लेते हों कि कौन किधर है। उन के पीछे रामरामदत्त गये, उन्हों ने किसी ओर न देखा। सब के पीछे मेरे 'पति' गये पर जाने के समय उन की आखें मानों चारों ओर किसी को खोजती थीं। मैं उन के नैनों को पाहुनी हुई, क्योंकि उन के नेत्र मेरीही खोज करते थे, यह बात मैं भलीभांति जानती थी। ज्योंही उन्हों ने मेरी ओर देखा, त्योंही चट पट जान बूझ कर मैंने–क्या कहूं कहते लाज आती है–सांप का फन फैलाना जैसे स्वभावसिद्ध है वैसेही हमलोगों का कटाक्ष भी है। जिन्हें अपना पति जान चुकी थी, उन के ऊपर कुछ अधिक मात्रा का विष क्यों न ढाल देती? जान पड़ता है कि 'प्राणनाथ' घायल होकर बाहर गये।

तब मैंने हारानी की शरण लेने की इच्छा की। अकेले में बुलाते ही वह हंसते हंसते आ पहुंची। वह ठठा के हंस कर बोली–

"परोसने के समय बूढ़ी मिसराइन की नक़ल देखी थी ?" यों कह और जवाब सुनने का आसरा न देख कर उस ने फिर हंसी का फुहारा छोड़ा।

मैं ने कहा—"सो मालूम है, किन्तु उस बात के लिये मैं ने तुझे नहीं बुलाया है। बस जन्म भर के लिये मेरा एक उपकार कर। ये बाबू कब आयंगे, इस बात की ख़बर तू जल्दी से मुझे ला दे।"

हारानी की हंसी एक दम से बंद होगई। इतनी हंसी इस तरह उड़ गई जैसे धूएं के अंधेरे में आग छिप जाती है। उस ने गंभीर भाव से कहा—"छिः बीबी रानी! मैं नहीं जानती थी कि तुम्हें यह रोग भी है।"

मैं हंसी और बोली-"आदमी का सब दिन एक सा नहीं बीतता। इस लिये अब तू बड़प्पन रहने दे और बतला कि मेरा यह उपकार करेगी कि नहीं।"

हारानी ने कहा—"किसी तरह भी मुझ से ऐसा खोटा काम न होगा।"

मैं ख़ाली हाथ हारानी के पास नहीं गई थी, बरन महीने के जो रुपये थे उन में से पांच रुपये उस के हाथ में रख के मैंने कहा—"तुझे मेरे सिर की क़सम है, यह काम तुझ को करनाही पड़ेगा।"

हारानी उन रुपयों को उछाल कर फेंका ही चाहती थी पर वैसा न कर के उस ने पास ही एक मट्टी के ढोहे पर रख दिया और कहा—बहुतही गंभीर भाव से, जिस में हंसी की गंध भी न थी—

"तुम्हारे रुपये मैं फेंक दिया चाहती थी, पर झनझनाहट होने पर एक बखेड़ा उठ खड़ा होता, इसी से मैं ने धीरे से यहां रख दिया—उठा लो,—और ऐसी निकम्मी बातें कभी मुंह से न निकालो।"

यह सुन मैं ने रो दिया। एक हारानी ही विश्वासी दासी थी, और टहलनियों का विश्वास न था, तो फिर किस को धरती? मेरे रोने का असली भेद हारानी नहीं जानती थी, तोभी उसे दया आई, उस ने कहा—"रोती क्यों हो? क्या ये बाबू चीन्हें आदमी तो नहीं हैं?"

तब एक बार मैंने मन में विचारा कि हारानी से सब हाल खोल कर कह दूं; किन्तु फिर सोचा कि शायद यह इतना विश्वास न करेगी और एक उपद्रव खड़ा कर देगी। यही सब सोच विचार कर मैं ने स्थिर किया कि, 'सुभाषिणी के अतिरिक्त इस समय मेरी दूसरी गति नहीं है। क्योंकि इस समय वही मेरी बुद्धि और वही मेरी रक्षा करनेवाली है तो उसी से सब हाल खुलासे कह कर सलाह करूं।' यह सोच कर मैं ने हारानी से कहा—"हां, चीन्ह पहिचान के आदमी हैं—खूब पहिचाने हुए हैं—और सारी राम कहानी सुन कर तू विश्वास न करेगी, इसी से तुझ से सब बात खोल कर नहीं कही। पर इतना तू जान रख कि कोई बुराई की बात नहीं है।"

"कोई बुराई की बात नहीं है।" इतना कह कर मैं ने ज़रा विचार किया कि मेरे लिये कोई बुराई की बात नहीं है, पर हारानी के लिये? हां! उस के लिये बुराई है, तो फिर उसे कीचड़ में क्यों

फंसाऊं ? उस समय वही "चलो सखीरी जल भर लाऊं" वाला गीत याद आया। कुतर्क कर के मैं ने अपने मन को समझाया, क्योंकि जो दुर्दशा में फंसता है, वह अपने छुटकारे के लिये कुतर्क का ही आसरा लेता है। मैं ने हारानी को फिर समझाया कि "कोई दोष की बात नहीं है।"

हारानी—तुम क्या उन के साथ भेंट करोगी ?

मैं-हां।

हारानी—कब ?

मैं—रात को जब घर के सारे लोग सो जायंगे।

हारानी—अकेली ?

मैं—हां, अकेली।

हारानी—ऐसा काम मेरे बाप के किये भी न होगा।

मैं—और जो बहू रानी हुक्म दें तब ?

हारानी—तुम क्या पागल हो गई हो ?—वह भले घराने की बहू बेटी—सती लक्ष्मी—हो कर क्या ऐसे ऐसे कामों में हाथ देंगी ?

मैं—हां, यदि वह मना न करें, तो तू जायगी ?

हारानी—हां, तब जाऊंगी, उन के हुक्म से मैं क्या नहीं कर सकती ?

मैं—यदि वह हुक्म दे दें ?

हारानी—तो जाऊंगी, पर तुम्हारे रुपये न लूंगी, तुम अपने रुपये उठा लो।

मैं—अच्छा, तू ठीक समय पर ज़रूर मिलियो।

तब मैं अपनी आंखों का आंसू पोछती हुई सुभाषिणी की टोह लगाने चली, और उसे मैं ने सूने घर में ही पाया। मुझे देखते ही सुभाषिणी का मुखड़ा, मानो प्रातःकाल के कमल की भांति या मानो संध्या समय के रजनीगंधा (१) की भांति, मारे आनन्द के खिल उठा, उस का सारा अंग मानों प्रातःकाल में नख से शिख तक खिली हुई चमेली की भांति या मानों चन्द्रोदय के समय नदी की धारा की भांति मारे आनंद के हिलोरें लेने लगा। उस ने हंस कर और मेरे कान के पास अपना मुंह ला कर कहा—"क्यों? पहिचाना तो?"

अरे! यह सुनते ही मैं तो मानों आकाश पर से जैसे गिर पड़ी होऊं! फिर बोली—"एँ! क्या कहा? यह बात तुम ने क्यों कर जान ली?"

यह सुन सुभाषिणी ने अपना मुखड़ा और आंखें नचा कर कहा—

"आहा! तो मानों तुम्हारे सुनहले चांद ने आप ही आकर अपने को फंसाया है! अरे! हम लोग आकाश के ऊपर फंदा फेंकना जानती हैं, तभी तो तुम्हारे आकाश के चांद को फंसा कर ला दिया!"

मैं ने कहा—"लो—हम लोग कौन—कौन? क्या तुम और रमण बाबू?"

(१) एक प्रकार का सफ़ेद फूल, जिसे गन्धराज भी कहते हैं। अनुवादक।

सुभाषिणी—नहीं तो और कौन ? तुम ने अपने दूलह, ससुर, और अपने गांव का नाम बतला दिया था, सो याद है कि नहीं ? बस, यही सुन कर मेरे र० बाबू ने तुम्हारे चितचोर को चीन्ह लिया। तुम्हारे उ० बाबू का एक बड़ा मुकद्दमा इन के हाथ में था—इसी बहाने तुम्हारे उ० बाबू को कलकत्ते आने के लिये मेरे र० बाबू ने लिखा; और फिर आतेही निमंत्रण !!!

मैं—और फिर हाथ फैला कर बूढ़ी से दाल डभलवा लेना !

सुभाषिणी—हां ! वह भी हमीं लोगों का षड्यंत्र था।

मैं—तो क्या मेरे उ० बाबू को मेरी कुछ टोह दी गई है ?

सुभाषिणी—अरे, सत्यानाशिन ! भला, ऐसा भी कभी हो सकता है ? तुम्हें डाकू लूट ले गये थे, फिर तुम न जाने कहां कहां गई, इस का हाल कौन जाने ? तुम्हारे परिचय को पाकर फिर क्या वे तुम्हें अपने घर में रक्खेंगे ? वरन कहेंगे कि जिस का पैर निकल गया उसे कौन अपनावे ? इस लिये र० बाबू तो यों कहते हैं कि अब जो कुछ कर सकती हो, सो तुम आप करो।

मैं—मैं एक बार अपना करम ठोंक कर देखूंगी कि क्या होता है—नहीं तो डूब मरूंगी। किन्तु उन के साथ बिना भेंट किये क्या कर सकती हूं ?

सुभाषिणी—कब मुलाकात करोगी, कहां पर मिलोगी ?

मैं—तुम लोगों ने जब यहां तक किया है तो इस विषय में भी थोड़ी सहायता करो। उन के डेरे पर जाकर मैं नहीं मिलूंगी—और जो जाना भी चाहूं सो वहां ले कौन जायगा ? और कौन मुलाकात करा देगा ? इसलिये यहीं पर मिलना ठीक है।

सुभाषिणी—कब ?

मैं—रात को, सब के सो जाने पर।

सुभाषिणी—अभिसारिका बनोगी ?

मैं—बिना इस के और दूसरी गति कौन सी है ? और फिर इस में बुराई क्या है ? पति ही तो हैं।

सुभाषिणी—नहीं, दोष कुछ भी नहीं है, किन्तु ऐसा करना है तो उन्हें रात को अटकाना पड़ेगा। उन का डेरा पास ही है, इस लिये ऐसा क्यों कर होगा ? अच्छा देखूं र० बाबू के संग ज़रा सलाह कर लूं।

यों कह उस ने रमणबाबू को बुलवाया। और उन के साथ जो कुछ बातें हुईं सो सब उस ने आकर मुझ से सुनाईं और कहा—"र० बाबू जो कुछ कर सकते हैं, वह यही है कि, वे इस समय मुकद्दमे के काग़ज़ात न देखेंगे और कोई बहाना कर के उन्हें अटकावेंगे। काग़ज़ देखने के लिये संध्या पीछे समय नियत करेंगे। और संध्या होने पर तुम्हारे पति के आने पर काग़ज़ देखेंगे। काग़ज़ देखते देखते बहुत रात बिता देंगे और रात अधिक हो जाने से उन से भोजन कर लेने के लिये हठ करेंगे। फिर इस के बाद तुम्हारी विद्या में जो कुछ शक्ति हो, सो करना। किन्तु रात को रहने के लिये हम लोग किस छल से उन से अनुरोध करें ?"

मैं ने कहा—यह अनुरोध तुम लोगों को न करना पड़ेगा, वह मैं खुद करूंगी। क्योंकि वे जिस में मेरा अनुरोध मानें, वह उपाय मैं कर चुकी हूं। दो एक नैनबान चला कर उन्हें मैं ने

मारा था, जिस का जवाब वे दे चुके हैं। वे अच्छे आदमी नहीं हैं। पर इस समय अपने अनुरोध को उन तक पहुंचाऊं क्यों कर? केवल दो एक पंक्ति में लिख दूंगी, बस, वह कागज़ कोई उन्हें दे आवे तो सारा काम बन जाय।

सुभाषिणी—किसी नौकर चाकर के हाथ क्यों नहीं भेज देती?

मैं—यदि जन्म जन्मान्तर में भी पति न पाऊं, सो भी कबूल, पर किसी पुरुष से ऐसी बात नहीं कह सकती।

सुभाषिणी—हां, यह तो ठीक है, अच्छा किसी दाई के हाथ?

मैं—दाई ऐसी विश्वासी कौन है? यदि कोई उपद्रव खड़ा हो गया तो सब मिट्टी हो जायगा।

सुभाषिणी—हारानी विश्वासी दाई है।

मैं—विश्वासी जान कर ही हारानी से मैं ने कहा था पर वह मेरी बात सुन कर नाराज़ हो गई है। पर तुम्हारा इशारा पाते ही वह जाने को तैयार हो सकती है। किन्तु ऐसा इशारा करने के लिये तुम से क्यों कर कहूं? जो मरूंगी, मैं अकेली ही मरूंगी-हाय! अभागे नैनों में फिर पानी भर आये।

सुभाषिणी—हारानी ने मेरी बात क्या कही है?

मैं—यही कि यदि तुम मना न करो तो वह जा सकती है।

यह सुन सुभाषिणी ने कुछ देर तक इस पर विचार किया, फिर कहा—'संध्या पीछे उसे इसी बात के लिये मेरे पास आने को कह देना।'

तेरहवां परिच्छेद।

मुझे एक्ज़ामिन देना पड़ा!

संध्या पीछे मेरे पति कागज़ात लेकर रमणबाबू के पास आये। यह खबर पाकर मैं फिर एक बार हारानी के गोड़मुंड़ पड़ी। पर उस ने वही बात कही कि, "बहू यदि मना न करें तो मैं यह काम करसकती हूं और तभी जानंगी कि इस काम में कोई बुराई नहीं है।"

मैं ने कहा—अच्छा जो चाहे सो कर—मैं तो चिन्ता के मारे बेचैन हूं।

यह इशारा पाते ही हारानी ज़रा हंसती हंसती सुभाषिणी के पास दौड़ी गई! और मैं उस के लौट कर आने तक आसरा लगाये जहां को तहां बैठी रही। मैंने देखा कि वह हंसी के फुहारे छोड़ती उतावली से कपड़े सम्हालती हांफती हांफती दौड़ी हुई मेरे सामने आ खड़ी हुई। मैं ने पूछा—"क्यों री, इतनी हंसती क्यों है?"

हारानी-"बीबी! ऐसी जगह भी आदमी को ठगना चाहिये? जान जा चुकी थी और क्या!"

मैं-क्या हुआ?

हारानी—"मैं तो जानती थी कि रानी बहू के घर में झाड़ू नहीं रहती, क्योंकि रोज़ झाड़ू ले आकर हमही लोग घर बुहार आती हैं। किन्तु आज क्या देखा कि रानीबहू के हाथके पास ही काई रख आया है! मैं ने ज्योंही आकर कहा कि "क्या

जाऊं ? " त्योंही वे उसी झाड़ू को उठा कर मुझे मारने दौड़ीं। अच्छा भाग्य था कि मैं भागना जानती थी इसी से भाग कर बची। नहीं तो झाड़ू की चोट से प्राण जा चुका था, और क्या! तो भी एक झाड़ू पीठ पर बैठही तो गया—देखो तो सही दाग है कि नहीं ?

यों कह कर उस ने हंसते हंसते अपनी पीठ मुझे दिखाई। पर झूठी बात थी—दाग़वाग कुछ भी नहीं पड़ा था—तब वह बोली—

" अच्छा, अब क्या करवाना है, कहो, चटपट कर आऊं। "

मैं – झाड़ू खा कर भी जायगी ?

हारानी—झाड़ू मारा है—पर मना तो किया ही नहीं; मैं तो कह चुकी हूं कि जो वह मना न करेंगी, तो जाऊंगी।

मैं—झाड़ू मारना, क्या मना करना नहीं है ?

हारानी—हां, देखो, बीबी जी! जब रानी बहू ने झाड़ू उठाया, उस समय उन के ओठों के कोने में ज़रासी मुस्कुराहट मैं ने देखी थी। अच्छा, तो क्या करना होगा, कहो।

तब मैं ने एक टुकड़े काग़ज़ पर लिखा—

"मैं आप को अपना तनमन समर्पण कर चुकी। सो क्या, आप अपनावेंगे ? यदि ग्रहण करें तो आज रात को इसी घर में शयन करें। घर का दर्वाज़ा खुला रहेगा।

वही रसोईदारिन। "

चिट्ठी लिख कर मारे लज्जा के ऐसा जी में आया कि पोखरी के जल में डूब मरूं या अंधेरे में लुक रहूं। पर क्या करती? विधाता ने मेरा भाग्य ही ऐसा बनाया था। जान पड़ता है कि और कभी किसी कुलवती नारी को ऐसी दुर्दशा भोगनी नहीं पड़ी होगी।

कागज़ मोड़माड़ कर हारानी को दिया और कहा—"ज़रा ठहर जा।" यों कह, मैं ने सुभाषिणी के पास जा कर कहा—"एक बार ज़रा भैया जी (रमण बाबू) को बुलानीं तो अच्छा होता, जो जी में आवे, उन से दो चार बातें कर के तब उन्हें जाने देना।" यह सुन सुभाषिणी ने वैसा ही किया। और रमण बाबू के उठ आने पर मैं ने हारानी से कहा कि,—"अब जा।" हारानी गई और कुछ देर पीछे मेरी चिट्ठी फेर लाकर मेरे हाथ दी। उस के एक कोने में केवल इतना ही लिखा था कि,—"अच्छा।" तब मैं ने हारानी से कहा कि,—"जो इतना किया है तो कुछ थोड़ा सा और भी करना पड़ेगा। आधी रात की बेला मुझे उन का सोनेवाला घर दिखला देना होगा।

हारानी—अच्छा, पर इस में कोई बुराई तो नहीं है?

मैं—रत्ती भर भी नहीं, ये मेरे किसी जन्म के दूलह हैं।

हारानी—ऐं! किसी जन्म के, या इसी जन्म के, यह बात मेरी समझ में नहीं आई।

मैं ने हंस कर कहा—"चुप।"

हारानी हंस कर बोली—"यदि इसी जन्म के हों,

तब तो मैं पांच सौ रुपये इनाम लूंगी, नहीं तो मेरी झाड़ू की चोट की कसक न जायगी।"

फिर मैं ने सुभाषिणी के पास जाकर यह सारा हाल कह सुनाया। फिर वह अपनी सास से कह आई कि—"आज कुमुदिनी का जी अच्छा नहीं है, सो वह रसोई पानी न कर सकेगी, इसलिये सोना की मा रसोई करे।"

सोना की मा रसोई करने गई—और सुभाषिणी ने मुझे अपने कोठे के अंदर ले जा कर भीतर से किवाड़ बंद कर लिया। मैं ने पूछा—"यह क्या? यों कैद क्यों करती हो?" सुभाषिणी ने कहा—"तुम्हारा सिंगारपटार करूंगी।"

फिर उस ने मेरा मुंह धो धा कर पोंछ दिया। बालों में खुशबूदार तेल लगा कर रचपच कर जूड़ा बांध दिया, और कहा,—'इस जूड़े की बंधाई का दाम एक हज़ार रुपया है, सो समय आने पर मेरे ये हज़ार रुपये भेज देना।" इसके अनंतर वह अपनी एक साफ़ और बढ़ियां साड़ी निकाल कर मुझे पहिराने लगी। उस ने उस साड़ी के पहिराने के लिये ऐसी खींचा खींची की कि नंगी होने के डर से मैं ने लाचार हो वह साड़ी पहिन ली। इसके बाद वह अपने गहने का डिब्बा ला कर मुझे पहराने बैठी, तब मैं बोली—

"मैं कभी न पहिरूंगी।"

इसी बात पर बहुत देर तक मेरे उसके हुज्जत हुई—पर मैं ने किसी तरह भी उस के गहने नहीं पहिरे। तब उस ने कहा—"अच्छा, ठहरो, एक और दूसरे गहने लिये आती हूं—उन्हीं को

पहिरो।" यों कह कर उस ने एक फूलदानी में से चमेली की अधखिली कली के बाले को मेरे कानों में पहिरा दिया। फिर उसी का गुलीबन्द, उसी के बाजू और उसी की तुलसीमाला पहिराई। इसके अनंतर एक जोड़ नये सोने के इयररिंग (कुंडल) निकालकर कहा—

"इन्हें मैं ने अपने रुपये से र० बाबू से ख़रीदवा कर मंगवाया है, केवल तुम्हें देने ही के लिये। इसलिये कि तुम जहां रहोगी, इसे पहिरोगी तो मुझे याद किया करोगी। क्या जानूं, सखी! यदि आज से फिर तुम से भेंट न हो! भगवान् ऐसा ही करे इसी लिये आज तुम्हें यह इयररिंग पहरा दूंगी। बस इस के पहिरने में 'नाहीं नुहीं' मत करो।"

इतना कहते कहते सुभाषिणी रोने लगी, मेरी भी आंखों में आंसू भर आये, और फिर मैं 'नाहीं' न कर सकी। सुभाषिणी ने इयररिंग पहिरा दिया।

मेरे सिंगारपटार होने पर सुभाषिणी के बच्चे को दाई दे गयी। उसे गोदी में ले कर मैं उसके साथ कहानी कहने लगी। एक ही कहानी के सुनते सुनते वह सो गया। इस के बाद मेरे मन में एक दुःख की बात उठी थी, उसे भी सुभाषिणी से बिना कहे मैं न रह सकी। मैं ने कहा—

"मैं उमंग से फूली अंगों नहीं समाती, किन्तु मन ही मन उन की कुछ निन्दा भी करती हूं। क्योंकि मैं ने तो पहिचान लिया कि ये मेरे दूलह हैं, इसीलिये जो कुछ मैं कर रही हूं मेरी समझ

से उस में कोई दोष नहीं है। किन्तु इन्हों ने भी मुझे चीन्ह लिया होगा यह बात कभी होही नहीं सकती । मैं ने इन्हें भरी जवानी में देखा था, इसलिये मुझे पहिले ही सन्देह हुआ था । किन्तु इन्हों ने मुझे केवल ग्यारह बरस की लड़कीही देखा था । और फिर इन्हों ने भी मुझे पहिचाना हो सो किसी प्रकार सम्भव नहीं। इसलिये इस में सन्देह नहीं कि ये मुझे परस्त्री समझ कर मेरे प्यार की आशा में मतवाले हुए हैं, इस कारण मैं इनको मन ही मन बहुत निन्दा करती हूं । किन्तु ये पति हैं और मैं स्त्री हूं—इसलिये इन्हें बुरा समझना मुझे उचित नहीं है, यही समझकर अब मैं इस बात की आलोचना न करूंगी।" मैंने मनही मन इस बात का संकल्प किया कि यदि मैं कभी वह दिन पाऊंगी तो इन के इस ऐब को छुड़ाऊंगी ।

सुभाषिणी ने मेरी बातें सुन कर कहा—"तेरे ऐसी बंदरी भी कोई न होगी अरी ! पगली ! इनको स्त्री नहीं है न ?"

मैं—तो क्या मेरे पास खसम बैठा है ?

सुभाषिणी—अरे, मर ! स्त्री और पुरुष की बराबरी क्या ? जा देखूं तू कमिसेरियट का काम कर के रुपये पैदा कर तो ला ?

मैं—अच्छा, पुरुष लोग पेट रखा कर और बच्चे जन कर उन को पालें पोसें, तब मैं कमिसेरियट का काम करने जाऊंगी । बात यह है कि जो जिस काम को कर सकता है, वही उसे करता है । क्या पुरुषों के लिये अपनी इंद्रियों का रोकना इतना कठिन है ?

सुभाषिणी--"अच्छा, पहिले तेरा घर तो बसे, फिर पीछे तू घर में आग लगा दीजो । अभी इन सब बातों को रहने दे और किस तरह दुलहे के मन को वश में करेगी इस बात का एग्ज़ामिन तो दे ? नहीं तो तेरा निस्तार नहीं है ।"

यह सुन मैं ने ज़रा घबड़ा कर कहा—"इस विद्या को तो मैं ने कभी सीखा ही नहीं !"

सुभाषिणी—तो मुझ से सीख ले, यह तो तू जानती है न, कि मैं इस शास्त्र में पंडिता हूं ।

मैं—हां, सो तो देखती ही हूं ।

सुभाषिणी—तो सीख, थोड़ी देर के लिये मान ले कि तू पुरुष है, और मैं क्योंकर तेरे मन को फांसती हूं ।

यों कह कर उस मुंहझौंसी ने ज़रा सा घूंघट काढ़ कर और अपने हाथ से रच रच कर लगाये हुए एक बीड़ा पान ला कर मुझे खाने के लिये दिया । वैसा पान वह केवल रमण बाबू के लिये ही लगाती थी और किसी को भी कभी वह बीड़ा नहीं देती थी । यहां तक कि आप भी वैसी बीड़ी कभी नहीं खाती थी । फिर रमण बाबू का हुक्का वहां रक्खा था, जिस पर चिलम रक्खी हुई थी और उस में केवल राख और अराठी भरी थी; उसे ला कर सुभाषिणी मेरे सामने रख कर फूंक मार कर मानों चिलम सुलगाने लगी । इस के बाद फूल के पंखे को हाथ में ले वह मुझे हवा करने लगी, जिस से हाथ की चूड़ी और कंगनों की बड़ी मीठी झनझनाहट निकलने लगी ।

मैं ने कहा—भई ! यह तो लौंड़ीपना है, सो दाईपने की मुझ

में कहां तक विद्या है, क्या इसी का परिचय देने के लिये मैं ने
आज उन्हें अटका रक्खा है ?

सुभाषिणी ने कहा—हम लोग अपने पति की दासी नहीं हैं,
तो क्या हैं ?

मैं ने कहा—जब उन की प्रीति मुझ में होगी, तब दासीपना
किया जा सकेगा। तब पंखा भी झलूंगी, पांव भी दाबूंगी, पान
भी लगा दूंगी और तंबाकू भी भर दूंगी; पर अभी करने को ये
सब बातें नहीं हैं।

तब हंसती हंसती सुभाषिणी मेरे पास सरक बैठी और मेरे
हाथ को अपने हाथ में ले कर मीठी मीठी गप्प करने लगी। पहिले
पहिल, हंसती हंसती, पान चाभती चाभती, कान की बाली हिला
कर उस ने जैसा रंग पकड़ा था, इसी के अनुसार वह बातें
करने लगी। पर बातें करते करते वह (पुरुष का) भाव भूल
गई और सखी भाव ही से बातें करने लगी। मैं जो चली जाऊंगी
इस को बात उस ने छेड़ी। उस की आंखों में आंसू की बूंदें भी
छलकने लगीं। तब उस के मन बहलाने के लिये मैं ने कहा—

" सखी, जो कुछ तुम ने सिखलाया, यह सब स्त्रियों का अस्त्र
तो है, किन्तु अभी उ० बाबू के ऊपर क्या यह चोट कर
सकेगा ? "

तब सुभाषिणी ने हंस कर कहा—" तो मेरा ब्रह्मास्त्र
सीख ले। "

यह कह कर उस निगोड़ी ने मेरे गले में बाहें डाल, मेरी ठुड्डी पकड़ के मुँह ऊंचा कर के मेरे गालों को चूम लिया। उस की आंख का एक बूंद आंसू मेरे गाल पर चू पड़ा।

तब मैं ने भीतर ही भीतर अपने आंसू को पी कर कहा-"यह तो, मानों संकल्प के पहिले ही दक्षिणा देदेना तुम सिखला रही हो।"

सुभाषिणी ने कहा—"जा, निगोड़ी! तब तुझे विद्या न आवेगी। अच्छा, तू क्या जानती है, उस का एग्ज़ामिन दे? बस, समझ ले कि मैं ही तेरे 'उ० बाबू' हूं।" यों कह कर वह गद्दी के ऊपर डट कर बैठ के हंसी के न रुकने से अपने मुंह में कपड़ा ठूंसने लगी। फिर ज़रा हंसी के रुकने पर उस ने मेरी ओर घुर कर देखा और फिर हंसते हंसते लोटपोट हो गई। और हंसी के थम्हने पर बोली—"एग्ज़ामिन दे तो सही।" तब तो मेरी जिस विद्या का परिचय पाठक आगे पावेंगे, उसी का थोड़ा बहुत परिचय मैं ने सुभाषिणी को दिया। जिस पर उस ने मुझे गद्दी पर से ढकेल दिया और कहा—"दूर हो, पापिन! तू असल काली नागिन है।"

मैं ने कहा—"क्यों भई?"

सुभाषिणी ने कहा—"अरे! ऐसी मुस्कुराहट और इशारे-बाज़ी में क्या पुरुष टिक सकते हैं? कभी नहीं, वरन मर कर भूत होजाते हैं।"

मैं—तो मेरा एग्ज़ामिन (परीक्षा) पास हुआ न?

सुभाषिणी—खूब पास हुआ-कमिसेरियट के नौ सौ निन्यानवे मुन्शियों ने भी ऐसी मुस्कुराहट या इशारेबाज़ी को कभी न देखा होगा। अच्छा, जो तेरे मर्दुए का सिर तेरा ज़हरीली मार पर घूम उठे तो ज़रा उस बेचारे के सिर में बादामरोगन मालिश कर दीजो।

मैं—"अच्छा। अब आहट से जान पड़ता है कि बाबू लोगों का भोजन हो गया और रमण बाबू के यहां आने का समय हुआ; इस लिये अब मैं तुम से बिदा होती हूं। सखी! जो कुछ तुम ने सिखलाया है, उन में से एक बात मुझे बहुत ही मीठी लगी—वही मुखचुम्बन! तो आओ, एक बार फिर उसे सीखूं।"

तब तो सुभाषिणी ने मेरा गला पकड़ा और मैं ने उस का, और कस के लिपटकर हरएक ने दूसरी के गालों को खूब चूम चूम कर (दोनों ही ने) देर तक आंसू बहाया। आहा! इस से बढ़ कर भी कोई प्यार हो सकता है? सुभाषिणी के समान क्या कोई भी प्यार करना जानता है? मैं एक दिन मरूंगी, किन्तु सुभाषिणी को कभी न भूलूंगी।

चौदहवां परिच्छेद।

मेरी प्राण देने की प्रतिज्ञा!

मैं हारानी को होशियार कर के अपने सोनेवाले घर में गई। बाबू लोगों का भोजन हो चुका था। इतने ही में एक बड़ा बखेड़ा

उठ खड़ा हुआ। कोई पंखे के लिये चिल्लाता, कोई जल के लिये कोलाहल करता, कोई दवा के लिये हल्ला मचाता, और कोई डाक्टर डाक्टर पुकारता था। इसी प्रकार बड़ा कोलाहल मचा। उसी समय हंसती हंसती हारानी आ पहुंची। मैं ने उस से पूछा— "इतना हल्ला क्यों मचा है ?"

हारानी—वही बाबू बेहोश हो गये थे।

मैं—अच्छा, फिर क्या हुआ ?

हारानी—अब होश में हैं।

मैं—फिर ?

हारानी—पर अभी बहुत सुस्त हो रहे हैं। अपने डेरे पर न जा सकेंगे, सो यहीं पर बड़े कमरे की बग़लवाली कोठरी में सोये हैं।

मैं ने समझ लिया कि मेरे न्योते पर उन्हों ने यह एक पाखंड फैलाया है। फिर हारानी से कहा—"जब घर के सारे आदमी सो जायं और दीये बुझा दिये जायं तब तुम आइयो।

हारानी ने कहा—अरे ! वह मांदे जो हो गये हैं !

मैं ने कहा—मांदे नहीं, तेरा सिर ! और पांचसौ बीवियों का सिर ! ! ! ज़रा मैं उस दिन को तो पाऊं फिर समझूंगी।

यह सुन हारानी हंसती हुई चली गई। फिर दीयों के बुझने और सब के सो जाने पर वह मुझे साथ ले जा कर उन का सोने-वाला घर दिखला के चली आई। मैं घर के भीतर घुसी तो क्या देखती हूं कि मेरे प्राणधन वहां पर अकेले ही सोये हुए हैं। वे कुछ भी सुस्त न थे। घर में दो बड़े बड़े लैम्प जल रहे थे, पर सब

तो यह है कि वे अपनी ही मनमोहनी छटा छिटका कर घर को उंजाला किये हुए थे। मैं भी घायल हो रही थी और मारे आनन्द के फूली अंगों नहीं समाती थी।

यौवन के पाने पर मेरा यही पहिले पहिल पति से बोलना था। पर उस में कैसा वा कितना सुख था सो क्यों कर बतलाऊं? मैं बड़ी मुखरा थी, किन्तु जब पहिले उन के साथ बातें करना चाहा तो किसी तरह भी मुंह न खुला। मेरा गला बंद हुआ जाता था, सारा अंग कांपता था, कलेजा धकधक करनेलगा और जीभ सूखी जाती थी। तो जब बोला न गया तो मैंने रो दिया।

पर उस आंसू के भेद को वे न समझ कर कहने लगे—"रोती क्यों हो? मैं ने तो तुम्हें बुलाया नहीं है, तुम आपही आई हो, तब रोती क्यों हो?"

इस कठोर वचन को सुन कर मेरे कलेजे में बड़ी चोट लगी। वे मुझे कुलटा समझते हैं—इस से मेरी आंखों की धारा और भी बढ़ी। मन में सोचा कि अभी अपना परिचय दूं—क्योंकि अब यह पीड़ा नहीं सही जाती। किन्तु उसी समय यह बात ध्यान में आई कि यदि परिचय देने पर ये मेरी बातों का विश्वास न करें और यदि मनही मन यों समझें कि "इस का घर भी कालीदीघी है, सो अवश्य इस ने मेरी स्त्री के डांकुओं के हाथ पड़ने का हाल सुना होगा, इसी लिये अब दौलत की आशा से अपने तईं झूठ मूठ मेरी स्त्री बतलाती है—" यदि ऐसाही ये समझ लें तो फिर क्यों कर इन्हें विश्वास दिलाऊंगी? यही समझ कर मैं ने अपना परिचय न दिया। और लंबी सांस ले आंसू पोछ उन के साथ

बातचीत करना आरंभ किया। बहुतेरी इधर उधर की बातों के होने पर उन्हों ने कहा—"कालीदीघी में तुम्हारा घर सुन कर मुझे अचरज होता है। क्योंकि कालीदीघी में भी ऐसी सुन्दरी जन्मी है यह मैं स्वप्न में भी नहीं जानता था।"

उनकी आंखों की ओर मैं लक्ष्य करती थी। मैं ने देखा कि वे बड़े अचरज के साथ मुझे निहार रहे हैं। उन की बातों के जवाब देते समय मैं सानुनासिक स्वर से बोली, "मैं सुन्दरी नहीं बन्दरी हूं। मेरे देश में आप की स्त्री ही की सुन्दरता की बड़ी बड़ाई है।" इस छल से उन की स्त्री की बात काढ़ कर मैं ने पूछा—"क्या, उन का कुछ पता लगा।"

उत्तर—नहीं।—तुम्हें देश से आये कितने दिन हुए?

मैं ने कहा—मैं उस घटना के बाद ही देश से आई। सो जान पड़ता है आप ने दूसरा विवाह किया है।

उत्तर—नहीं।

लम्बी चौड़ी बातों में उन्हें जवाब देने की छुट्टी ही नहीं दिखलाई दी। मैं उपयाचिका *, अभिसारिका बन कर गई थी—किन्तु मेरे आदर करने की भी उन्हें फुर्सत नहीं थी। वे चक-बकाये हुए मेरी ओर देखते ही रह गये और केवल एक बार इतना ही बोले कि—"ऐसा रूप तो औरतों में कहीं नहीं देखा।"

सौतिन नहीं आई है, यह सुन कर मुझे बड़ा आनन्द हुआ। मैं ने कहा—"आप लोग जैसे मर्यादा में बड़े हैं यह काम भी

* उपयाचिका वह स्त्री है जो परपुरुष के यहां जाकर स्नेह आदि कामना प्रकाश करे। अनुवादक।

वैसे ही विचार कर हुआ; नहीं तो ऐसा होने पर आप की स्त्री का पता लगे तो फिर दोनों सौतिन में ठायं ठायं हो।"

यह सुन उन्हों ने मुसकुरा कर कहा—"सो डर नहीं है। उस स्त्री के पाने पर भी अब हम उसे ग्रहण नहीं कर सकते। क्योंकि अब उस की जातपांत का क्या ठिकाना?"

यह सुनतेही मेरे सिर पर बज्र घहरा पड़ा, और सारी आशा निर्मूल हो गई। तब तो ये मेरा परिचय पाने पर मुझे अपनी स्त्री जान कर भी ग्रहण न करेंगे! हाय! इस बार मेरा नारी-जन्म ही व्यर्थ हुआ।

फिर साहस कर के मैं ने पूछा—"यदि अब उन से देखा देखी हो तो क्या करियेगा?"

इस पर उन्हों ने बिना संकोच ही कह डाला कि—"उसे त्याग देंगे।"

ऐसे निर्दयी? हाय! यह सुनते ही मैं काठ हो गई! पृथ्वी मेरी आंखों के आगे घूमने लगी।

उसी रात को मैं ने अपने पति की सेज पर बैठ कर उन की मनोहर मूर्ति को देखते देखते प्रतिज्ञा की कि—"या तो ये मुझे अपनी स्त्री जान कर ग्रहण करेंगे, और नहीं तो मैं अपनी जान दे दूंगी।"

पन्द्रहवां परिच्छेद।

जाति से बाहर !

तब वह सोच मेरा दूर हुआ। इस के पहिले ही मैं ने समझ लिया था कि वे मेरे वश हो गये हैं। मैं ने मन ही मन कहा कि यदि गैंड़े के टक्कर मारने में पाप नहीं होता, यदि हाथी के दांत चलाने में पाप नहीं होता, यदि बाघ के नखाघात में कोई पाप नहीं होता, और भैंसे के सींग मारने में कोई पाप नहीं होता तो मुझे भी कुछ पाप न होगा। इस लिये जगदीश्वर ने हम लोगों को जो जो शस्त्र दिये हैं, दोनों की भलाई के लिये उन्हें चलाऊंगी। यदि कभी—"छड़े झनकाती जाऊंगी" गीत का काम है तो बस अभी—इसी समय। यों विचार कर मैं उन के पास से उठ कर दूर जा बैठी और उन के संग उमंग के साथ बातें करने लगी। वे मेरे पास सरक आये, तब मैं ने उन से कहा—"मेरे पास न आइ-येगा। मैं देखती हूं कि आप को कुछ भ्रम हुआ है। (हंसते हंसते ये बातें मैंने कहीं और कहते २ जूड़ा खोलकर [सच्ची बात के न कहने से कौन इस इतिहास का मर्म जानेगा ?] फिर बांधने लगी) आप को कुछ भ्रम हुआ है। सुनिये, मैं कुछ कुलटा नहीं हूं, केवल आप से अपने देश की खोज खबर लेनेही की नीयत से आई हूं। बस, मेरा कोई खोटा मतलब नहीं है।"

जान पड़ता है कि उन्हों ने इस बात पर विश्वास न किया वरन और भी मेरे आगे सरक आये। तब मैं हंसती हंसती कहने लगी—"दें ! आप ने मेरी बातों पर ध्यान न

दिया ? अच्छा अब मैं चली। बस आप के साथ मेरी यही अन्तिम भेंट है।" यों कह कर जिस तरह नैनबान मारना होता है, उसी भांति कटाक्ष करती हुई अपने घुंघराले चिकने, सुबासित बालों के लच्छे की कोर मानों असावधानी से उन के गाल में छुलाकर संध्या की पवन से बालन्ती लता की भांति तनिक झूमती हुई मैं उठ खड़ी हुई।

मैं सचमुच उठ खड़ी हुई, यह देख कर वे सन्न हो गये और झपट कर उन्हों ने मेरा हाथ पकड़ा। चमेली की कली के कंगन के ऊपर उन का हाथ पड़ा, सो वे मेरे हाथ को धर कर मानो अचरज से मेरे हाथ की ओर निहारने लगे। मैं ने कहा—"क्या निहार रहे हैं?" उन्हों ने जवाब दिया—"यह क्या फूल है? पर यह फूल तो तुम्हारी नाज़ुक कलाई पर नहीं सोहता! क्योंकि फूल की अपेक्षा तुम अधिक सुन्दर हो। किन्तु चमेली के फूल की अपेक्षा भी स्त्री सुंदर होती है, यह आज पहिले पहिल देखा।" मैं ने कोप से उन के हाथ को झटक दिया, किन्तु हंस दिया और कहा—"आप अच्छे आदमी नहीं हैं। मुझे मत छूवें! और मुझे कुलटा भी न समझें।"

यह कह कर मैं दर्वाज़े की ओर बढ़ी। मेरे स्वामी-हाय! आज भी उस बात की याद आने से दुःख होता है—मेरे स्वामी ने हाथ जोड़ कर मुझे पुकारा—"मेरी बात मानो, मत जाओ। मैं तुम्हारे रूप को देख कर पागल हो गया हूं। मैं ने ऐसा रूप कभी भी नहीं देखा! सो ज़रा ठहरो, थोड़ा और देख लूं, क्योंकि फिर

नहीं—बोली "प्राणप्यारे ! मैं क्या ? खाक हूं। हाय ! आप के से रत्न को जो मैं छोड़े जाती हूं इसी से ही मेरे मन के दुःख समझें किन्तु क्या करूं ? धर्म्मही हम लोगों का एक मात्र प्रधान धन है-सो एक दिन के सुख के लिये मैं अपना धर्म्म न खोऊंगी। मैं बिना सोचे समझे आप के पास आई और मैंने बिना जाने बूझे आप को पत्र लिखा, किन्तु इतना खूब समझ रक्खें कि एक दम से कीच में नहीं गिर गई हूं। अभी तक मेरी रक्षा का पथ खुला हुआ है। मैं अपना बड़ा भाग्य समझती हूं कि यह बात अभी मेरे ध्यान में आ गयी। बस अब मैं चली।"

उन्हों ने कहा—"अपने धर्म की बात तुम जानो किन्तु प्यारी ! तुम ने मुझे ऐसी दशा में डुबाया है कि अब मुझे धर्म अधर्म का रत्ती भर ज्ञान नहीं है। मैं शपथ कर के कहता हूं कि तुम जन्म भर मेरी हृदयेश्वरी बन कर मेरे पास रहोगी। बस एक दिन के लिये मत समझो।"

मैं ने हंस कर कहा—"पुरुषों की कसम का विश्वास नहीं। छिन भर की देखा देखी से क्या इतना हो सकता है ?" यह कह कर मैं फिर चली और दर्वाज़े तक गई। तब तो फिर धीरज छोड़ कर मेरे प्राणनाथ ने दौड़ कर दोनों हाथों से मेरे दोनों पैर थाम्ह कर मेरा रास्ता रोक लिया और कहा—"हाय ! मैं ने तो ऐसा देखा नहीं !" वे मर्मभेदी लंबी सांस लेने लगे। हाय ! उनकी वह दशा देख कर मुझे भी दुःख हुआ, मैं ने कहा—"तो अपने डेरे पर चलिये—यहां रहने से आप मुझे छोड़ जायंगे।"

इस पर वे तुरंत ही राज़ी हो गये। उन का डेरा शिमला महल्ले में पास ही था, उन की गाड़ी भी खड़ी थी और प्यादे भी सोये हुए थे। बस फिर हम लोग धीरे से दर्वाज़ा खोल गाड़ी पर जा बैठे। उन के डेरे पर जाकर देखा कि दो मंज़िला मकान है। एक घर में मैं पहिलेही घुस गई। और जातेही भीतर से मैं ने दर्वाज़ा बंद कर लिया और मेरे प्राणनाथ बाहरही पड़े रहे।

उन्हों ने बाहर ही से बहुतेरी विनती की पर मैं ने हंस कर कहा—"अब तो आप की दासी होही चुकी, किन्तु देखूं आप की प्रीति का वेग कल सवेरे तक रहता है कि नहीं! यदि कल भी ऐसाही प्यार देखूंगी तो फिर आप के साथ प्रेम की बातें करूंगी बस आज यहीं तक।"

निदान मैं ने द्वार नहीं ही खोला, तब बेचारे लाचार होकर दूसरे घर में जाकर सो रहे। जेठ के महीने की भयावनी गर्मी में भयानक प्यास से व्याकुल रोगी को स्वच्छ और शीतल जलाशय के तीर पर बैठा कर उस का मुंह बांध दो कि जिस में वह जल न पी सके, तो बतलाओ कि जल में उस की चाह बढ़ेगी या नहीं?

थोड़ा दिन चढ़ने पर मैं ने अपने कोठे का दर्वाज़ा खोला, देखा कि प्राणपति द्वार पर आकर खड़े हैं। मैं ने अपने हाथ में उन का हाथ लेकर कहा—"प्राणप्यारे! या तो आप मुझे रामरामदत्त के घर पहुंचा दें, नहीं तो आज से आठ दिन तक मुझ से बात भी न करें। बस येही आठ दिन आप की परीक्षा के लिये हैं।" यह सुन उन्हों ने आठ दिन की परीक्षा ही स्वीकार की।

—*:*—

सोलहवां परिच्छेद।

खून कर के फांसी पड़ी!

पुरुषों को जलाने के लिये जितने उपाय विधाता ने स्त्रियों को दिये हैं, उन सभी उपायों का अवलंबन कर के मैं आठ दिन तक प्राणनाथ को जलाती रही। मैं स्त्री हूं—इस लिये क्योंकर मुंह खोल कर उन सब बातों का वर्णन करूं—किन्तु यदि मैं आग सुलगाना न जानती होती तो कल की रात इतनी आग न भड़कती। किन्तु किस उपाय से आग लगाई, किस तरह उस में फूंक मारा और किस भांति प्राणप्यारे के हृदय को जलाया, मारे लाज के इन बातों का जवाब मैं नहीं दे सकती। यदि मेरी किसी रसीली पाठिका ने नरहत्या का व्रत किया हो और उस में वह सफल भी हुई हो तो मेरी बातों के मर्म को वह भली भांति समझ सकेगी। और यदि कोई रंगीले पाठक कभी किसी नरघातिनी नारी के हाथ पड़े होंगे ता वे भी मेरी बातें समझेंगे। बस इस से अधिक क्या कहूं कि स्त्रीजाति ही इस पृथ्वी पर कण्टक है, क्यों कि मेरी जाति से इस पृथ्वी पर जितनी खराबी होती है, उतनी पुरुष जाति से नहीं होती। किन्तु भाग्य की बात यही है कि इस नरघातिनी विद्या को सभी स्त्रियां नहीं जानतीं, नहीं तो अब तक यह पृथ्वी मनुष्यों से खाली हो गई होती।

इन आठ दिनों तक मैं बराबर रात दिन प्राणपति के पासही रहा करती, प्रेम से बातें करती, और रूखी बात एक भी मुंह से न निकालती, हंसी, इशारेबाज़ी, अंगड़ाई (अंग भंगी) आदि तो

नीच औरतों के हथियार हैं। किन्तु मैं ने पहिले दिन प्रेम से उन के साथ बातें कीं; दूसरे दिन प्रेम के लक्षण दिखलाये; तीसरे दिन उन का गृहकार्य करना प्रारंभ किया, जिस में उन के खाने, पीने, सोने, नहाने, धोने आदि में किसी बात की कसर न रहे और जिस में वे हर तरह से सुखी रहें, वही काम मैं करने लगी; मैं अपने हाथ से उन की रसोई बनाती; यहां तक कि उन के लिये खरका तक अपने हाथ से बना रखती; और उन की ज़रा भी तबीयत सुस्त होती तो सारी रात जाग कर उन की सेवा टहल करती।

अब मेरा हाथ जोड़ कर आप लोगों से यह निवेदन है कि आप लोग अपने मन में यह न समझें कि मेरी ये सभी बातें बनावटी थीं। इन्दिरा के मन में इतना गर्व है कि वह केवल खाने कपड़े की लालच से, या पति के धन से धनेश्वरी होने की लालसा से यह सब नहीं कर सकती ; पति पाने के लोभ से बनावटी प्रेम में नहीं झलका सकती थी; इन्द्र की इन्द्राणी होने की लालच से भी ऐसा नहीं कर सकती ; प्राणपति के वश करने की इच्छा से मुस्कुराहट और इशारेबाज़ी की भरमार कर सकती हूं, किन्तु उन्हें मोहने के लिये बनावटी प्रेम नहीं झलका सकती। विधाता ने ऐसी मिट्टी से इन्दिरा को बनायाही नहीं है कि वह अपने प्राणेश्वर को नकली प्रीति से मोहे। बस जो अभागिन यह बात न समझ सकेगी वह नरक की कीड़ी मेरे लिये यों कहेगी कि "हंसी और कनखी मटकी के फंदे फैला सकती हो, जूड़ा खोल कर फिर उसे बांध सकती हो और बातों के छल से खुशबूदार

घूंघरवाले बालों की लटें अभागे मर्दुए के गाल में छुलाकर उसे रोमांचित कर सकती हो-पर यदि कुछ नहीं कर सकती हो तो केवल यही कि उस (पति) के पैरों को लेकर दाबना और उस के हुक्के की चिलम का फूंक कर सुलगाना !!!" बस जो निगोड़ी मुझे ऐसी बात कहा चाहे उस मुंहझौंसी को चाहिये कि वह मेरे इस जीवन वृत्तान्त को कदापि न पढ़े।

तुम पांच जनी पांच तरह की हो-पुरुष पाठकों की बातों पर मैं ध्यान नहीं देती, क्योंकि वे बेचारे इस शास्त्र की बातें क्या जानें ? सो तुम लोगों को मैं असल बात समझा देती हूं। सुनो-ये मेरे स्वामी हैं—पति की सेवा ही से मुझे परम आनन्द है—इसीलिये—बनावटी नहीं,—वरन सारे अंतःकरण से मैं प्यार का बर्ताव करती थी। मैं मनहीमन यह सोचती थी कि मेरे प्राणनाथ यदि मुझे ग्रहण न करेंगे तो मुझे सारी पृथ्वी का जो सार सुख है, वह कभी भी न प्राप्त हुआ और आगे भी कभी नहीं होगा तो फिर इन्हीं कई दिनों तक तो उन सुखों का इच्छा भर भोग कर लूं ; बस इसी लिये जी जान से मैं पतिसेवा करती थी। किन्तु इस से मैं कितनी सुखी होती थी, वह बात तुम लोगों में से कोई तो समझ जायगी और कोई नहीं समझेगी।

अब मैं दया कर के अपने पुरुष पाठकों को केवल हंसी चितवन के तत्त्व को समझाती हूं-जो बुद्धि केवल कालिज की परीक्षा देतेही सीमा-प्रान्त में पहुंच जाती है, जो बुद्धि केवल वकालत कर के दश रुपये पैदा करनेही से विश्वविजयिनी प्रतिभा कहलाने लगती है, जिस बुद्धि के प्रभाव ही से राजद्वार में सम्मान होता है, उस बुद्धि के भीतर पति-भक्ति-तत्त्व का प्रवेश कराना

किसी तरह भी सम्भव नहीं है। जो लोग कहते हैं कि विधवा का विवाह कर दो, और जवान लड़की न होने तक उस का विवाह न करो, स्त्रियों को पुरुषों की भांति सकल शास्त्रों में पंडिता करो, वे बेचारे अगाध बुद्धिवाले पतिभक्ति के तत्त्व के भेद को क्या समझेंगे ? तौ भी मुस्कुराहट और चितवन के तत्त्व को दया करके समझाने की जो मैंने प्रतिज्ञा की है उस का यही कारण है कि वह बड़ी मोटी बात है, देखो जैसे महावत अंकुश द्वारा हाथी को वश करता है, कोचवान चाबुक द्वारा घोड़े को वश करता है, ग्वाला गौओं को लाठी के द्वारा वश करता है, उसी तरह हम लोग भी हंसी और कनखी मटकी से तुम लोगों को अपने वश करती हैं। हम लोगों की पतिभक्ति ही हमलोगों का प्रधान गुण है; तो फिर हम लोगों को जो हंसी और कनखी के नीच कलंकों से कलंकित होना पड़ता है, यह तुम्हीं लोगों का दोष है।

तुम लोग कहोगे कि—"यह तो बड़े अहंकार की बात है ?" सो ठीक है—हमलोग भी मट्टीही की कलसी हैं—कि फूल की चोट से ही फट जाती हैं। सोई मैं अपने अहंकार का फल हाथों-हाथ पाती थी। जिस देवता के अंग नहीं, किन्तु धनुषबान है;—मा बाप नहीं (१), किन्तु स्त्री है;—फूल के बान हैं, किन्तु उन से पहाड़ों के भी टुकड़े टुकड़े हो जाते हैं; वही देवता स्त्री जातियों के गर्व के चूर्ण करनेवाले हैं। मैं ने अपनी हंसी मटकी के फंदे में दूसरे को फांसने जा कर उसे भी फंसाया और आप भी फंस गई।

(१) आत्मजनि।

आग लगाने जा कर दूसरे को भी जलाया और आप भी जल गई। होली के दिन गुलाल उड़ाने की भांति दूसरे को रंगने जा कर आप भी अनुराग से रंग गई। मैं खून करने जा कर आप ही फांसी पर चढ़ गई। यह मैं कह चुकी हूं कि उन का रूप बहुत ही मनोहर था—तिस पर तुर्रा यह कि जिस का ऐसा रूप रंग था, वह मेराही ऐश्वर्य था—

"उन ही के वा रूप सों, पगी रूप में पाग।
उन ही के अनुराग सों, मेरो अचल सुहाग॥"

उस के अनन्तर यह आग की भरमार! मैं हंसना जानती हूं, तो क्या हंसी का उत्तर हंसी नहीं है? मैं निहारना जानती हूं, तो क्या उस का पलटा वही नहीं है? मेरे अधरोष्ठ दूरही से चुंबन की लालसा से खिल रहे हों, फूल की कली पंखुरी खोल कर फूट निकली हो, तो क्या उन के प्रफुल्ल रक्तपुष्पतुल्य कोमल अधरोष्ठ उसी भांति खिल कर और पंखुरी खोल कर मेरी ओर घूमना नहीं जानते? मैं यदि उन की हंसी में, उन की चितवन में और उन के चुंबन की लालसा में इतनी इन्द्रियाकांक्षा के लक्षण देखती तो मैं ही जीत जाती, किन्तु सो नहीं है। उस मुस्कुराहट—उस चितवन और उस अधरोष्ठविस्फुरण में केवल स्नेह—अपरिमित प्रेम है। इसी से तो मैं ही हार गई, और हार कर मैं ने यह बात स्वीकार की कि बस यही तो इस पृथ्वी पर सोलह आना सुख है। जिस देवता ने इस (सुख) के साथ देह का सम्बन्ध लगाया है, उन की निज की देह जो जल कर राख हो गई, यह बहुत ही अच्छा हुआ।

परीक्षा का समय पूरा हो आया, किन्तु मैं उन के प्रेम की ऐसी दासी बन गई थी कि मैं ने मन ही मन स्थिर कर लिया था कि परीक्षा के समय के बीत जाने पर यदि ये मुझे मार कर निकाल भी देंगे, तो भी इन के पास से न जाऊंगी। और अंत में यदि मेरे परिचय को पाकर भी ये मुझे अपनी विवाहिता स्त्री की भांति ग्रहण न करेंगे और यदि मुझे उपपत्नी की भांति भी इन के पास रहना पड़े, तौभी मैं रहूंगी और पति को पाकर लोकलाज से न डरूंगी। किन्तु यदि मेरे करम में इतना भी न बदा हो बस इसी डर के मारे छुट्टी पाते ही मैं अकेले में बैठ कर रोया करती थी।

किन्तु यह भी मैंने समझ लिया था कि प्राणनाथ के भी पंख कट गये हैं। और अब उन में उड़ने की शक्ति नहीं है। उन के अनुरागरूपी अनल में अपरिमित घृताहुति पड़ रही थी। वे उस समय सब कामकाज छोड़कर केवल मेरा मुंह निहारा करते थे। मैं घर के काम काज करती और वे बालक की भांति मेरे संग लगे डोलते थे। उन के चित्त का दुर्दमनीय वेग मुझे पग पग में दिखलाई देता, पर मेरे संकेत करते ही वे स्थिर हो जाते। कभी कभी वे मेरा पैर पकड़ कर रोने लगते और कहते—"प्यारी! मैं इन आठ दिनों तक तुम्हारी बात मानूंगा, पर तुम मुझे छोड़ कर चली मत जाना।" और सचमुच मैंने यह समझ लिया कि यदि मैं इन्हें छोड़ दूंगी तो इन की बड़ी बुरी दशा हो जायगी।

परीक्षा पूरी हो गई। अठवारे के बीतने पर बिना कुछ कहे सुने हम दोनों एक दूसरे के अधीन हुए। उन्हों ने मुझे कुलटा समझा था, यह बात भी मैं ने सहली। किन्तु मैं चाहे जो होऊं, पर यह भी समझ लिया था कि मैं ने हाथी के पैरों में सीकड़ डाल दिया है।

सत्रहवां परिच्छेद।

फांसी के बाद मुक़द्दमे की तदारुक!

हम लोग कुछ दिन तक कलकत्ते में बड़े सुखचैन से रहे। इस के अनंतर देखा कि एक दिन प्राणप्यारे हाथ में एक चिट्ठी लिये बड़ी उदासी में डूबे हुए बैठे हैं। यह देख मैंने पूछा–"प्यारे! इतने उदास क्यों हैं?"

उन्हों ने कहा—"घर से चिट्ठी आई है, सो वहां जाना पड़ेगा।"

यह सुन मैं एकाएक बोल उठी—"और मैं!" मैं उस समय खड़ी थी, सो जहां की तहां धरती में बैठ गई और मेरी आंखों से आंसुओं की धारा बह निकली।

उन्हों ने स्नेहपूर्वक मेरा हाथ पकड़ और अपनी ओर खींच कर मेरा मुंह चूम लिया और मेरे आंसू पोछ कर कहा—"यही बात तो मैं भी सोच रहा हूं क्योंकि तुम्हें छोड़ कर मैं नहीं जा सकता।"

मैं—पर वहां ले जाकर लोगों से मेरा परिचय क्या देंगे? और किस तरह, कहां रक्खेंगे?

वे—यही तो सोच रहा हूं। वह शहर नहीं है कि दूसरी जगह तुम्हें रख दूंगा और कोई कानोंकान भी न जानेगा। सो, मा बाप के जानते तुम्हें कहां रक्खूंगा?

मैं—क्या, बिना गये नहीं बनेगा?

वे—नहीं, बिना गये नहीं बनता।

मैं—तो कितने दिनों में लौटेंगे ? यदि जल्दी फिरें तो, मुझे यहीं छोड़ जायं।

वे—ऐसा तो भरोसा नहीं है कि मैं जल्दी लौट सकूंगा, क्योंकि कलकत्ते हमलोग, कभी, ऐसाही संयोग हुआ तो आते हैं।

मैं—अच्छा, आप जाइये, मैं आप का जञ्जाल न हूंगी-(खूब रोते रोते यह बात मैंने कही) बस, मेरे कर्मों में जो बदा होगा, सो होगा।

वे—किन्तु मैं तुम्हें देखे बिना पागल हो जाऊंगा।

मैं—देखिये आप की विवाहिता स्त्री तो हूं नहीं !—(यह सुन प्राणप्यारे ज़रा कांप उठे)—सो आप के ऊपर मेरा ज़ोर क्या ? इसलिये मुझे आप इस समय बिदा—

किन्तु उन्हों ने मुझे इस के आगे फिर न बोलने दिया और कहा, "आज अब इन बातों का कोई काम नहीं है। आज सोचें, फिर जो कुछ सोच सांच कर ठीक करेंगे, उस का हाल कल कहेंगे।"

फिर उन्होंने तीसरे पहर आने के लिये रमण बाबू को एक चिट्ठी लिखी, उस में यही लिखा था कि कोई गुप्त बात है सो यहां आइये, बिना आये नहीं कह सकते।

तीसरे पहर रमण बाबू आये। उस समय मैं किवाड़ की आड़ में खड़ी होकर सुनने लगी कि क्या क्या बातें होती हैं। मेरे प्राण पति ने कहा—"आप की वह रसोईदारिन—जो नौजवान थी—उस का नाम क्या है ?"

रमण—कुमुदिनी।

उपेन्द्र—उस का घर कहां है?

रमण—सो इस समय नहीं बता सकते।

उपेन्द्र—वह विधवा है कि सधवा?

रमण—सधवा।

उपेन्द्र—उस के पति को आप जानते हैं?

रमण—हां, अच्छी तरह।

उपेन्द्र—वह कौन है?

रमण—यह बतलाने का मुझे अभी अधिकार नहीं है।

उपेन्द्र—क्यों? क्या इस में कोई गुप्त रहस्य तो नहीं है?

रमण—हां, है।

उपेन्द्र—आप ने कुमुदिनी को कहां से पाया?

रमण—मेरी स्त्री अपनी मौसी के यहां से उसे ले आई थी।

उपेन्द्र—नहीं, ये सब फ़ज़ूलबातें हैं। अच्छा! कुमुदिनी का चरित्र कैसा है?

रमण—बहुतही निर्मल। यदि उस में कोई दोष था तो यही कि वह मेरी बूढ़ी मिसराइन को बहुत ही खिढ़ाती थी; इस के अलावे और तो कोई दोष उस में नहीं पाये गये।

उपेन्द्र—किन्तु मैं औरतों को चालचलन के बारे में पूछ रहा हूं कि उस की चालचलन कैसी है?

रमण—कुमुदिनी सरीखी नेक चालचलनवाली स्त्री कम देखी जाती है।

उपेन्द्र—उस का घर कहां है? ऐं! बतलाते क्यों नहीं?

रमण—बतलाने का अधिकार नहीं है।

उपेन्द्र – उस की ससुरार किधर है ?

रमण—यहां से उत्तर।

उपेन्द्र—उस का पति जीता है ?

रमण—हां।

उपेन्द्र—आप उसे चीन्हते हैं ?

रमण—हां, चीन्हता हूं।

उपेन्द्र—वह (कुमुदिनी) इस समय कहां है ?

रमण—आप के इसी घर में।

यह सुन मेरे प्राणप्यारे चिहुंक उठे और चकपका कर बोले—"यह बात आप ने क्यों कर जानी ?"

रमण—इस के बतलाने का मुझे अधिकार नहीं है। अच्छा, अब आप की जिरह पूरी हुई ?

उपेन्द्र—हां, पूरी हुई; किन्तु आप ने तो यह न पूछा कि—"तुम क्यों मुझ से इन बातों को पूछते हो!!!"

रमण—दो कारणों से यह बात मैं ने न पूछी। उन में एक तो यह कि मेरे पूछने से आप बतलावेंगे नहीं। क्यों सच है कि नहीं ?

उपेन्द्र—हां, यह तो सच है। अच्छा, दूसरा कारण कौन सा है ?

रमण—यही कि जिस लिये आप ये सब बातें मुझ से पूछते हैं, उन का भेद मुझे मालूम है।

उपेन्द्र—एं ! यह भी आप जानते हैं ? अच्छा, क्या जानते हैं ? बतलाइये तो सही।

रमण—बतला नहीं सकते।

उपेन्द्र—अच्छा, मैं समझता हूं कि आप सब जानते हैं, किन्तु बतलाइये तो सही कि मैं जो अभिलाषा करता हूं वह पूरी होगी कि नहीं ?

रमण—भलीभांति पूरी होगी। इस बारे में आप कुमुदिनी से पूछियेगा।

उपेन्द्र—एक बात और है,—वह यही कि आप कुमुदिनी के बारे में जो कुछ जानते हैं, वह सब एक कागज़ में लिख कर और उस पर अपना दस्तख़त कर के मुझे दे सकते हैं ?

रमण—हां, दे सकते हैं,—किन्तु एक शर्त पर। मैं सब हाल लिख और उस पुलिंदे पर सील मुहर कर के उसे कुमुदिनी के हाथ में दे आऊंगा। और आप अभी उसे पढ़ने न पावेंगे। जब आप अपने देश पर जाइयेगा, तब उस पुलिंदे को खोल कर पढ़ियेगा। कहिये, इस बात पर आप राज़ी हैं ?

मेरे प्यारे ने थोड़ी देर तक कुछ सोच विचार करने पर कहा—"हां, राज़ी हैं, भला मेरे अभिप्राय की पोषकता तो उस से होगी न ?"

रमण—हां, होगी।

फिर इधर उधर की बातें कर के रमण बाबू चले गये और उ० बाबू मेरे पास आये।

मैं ने पूछा—ये सब बातें क्यों होती थीं?

उन्हों ने कहा—क्या तुम ने सब को सुना है?

मैं—हां, सुना है। मैं यों सोचती थी कि मैं तो आप को खून कर के फांसी पड़ गई; फिर फांसी के बाद तदारुक कैसा?

वे-आज कल की आईन के अनुसार ऐसा हो सकता है।

———

अठारहवां परिच्छेद।

भारी जूआचोरी का बन्दोबस्त!

उस दिन, दिन रात मेरे प्राणप्यारे अनमने हो सोच में डूबे रहे। और मेरे साथ उन्हों ने कुछ विशेष बात चीत न की। वरन मुझे देखतेही वे मेरे मुंह की ओर निहारने लगते। उन की अपेक्षा मेरे सोच का विषय अधिक था, किन्तु उन्हें सोच में डूबे देख कर मेरे कलेजे में बड़ी पीड़ा होने लगी। मैं अपने दुःख को मन ही में दबाकर उन्हें प्रसन्न करने की चेष्टा करने लगी। भांति भांति की गढ़न की फूल की माला, फूल के गजरे और फूल के गंडे बना बना कर उन्हें पहरानेलगी; तरह तरह के पान लगाये, भांति भांति के सुन्दर पकान्न किये; आप रोती थी, तौ भी अनेक रस की रसभरी कहानियां कहती थी। मेरे पति कारबारी आदमी थे, सब से बढ़ कर वे कारबार में बहुत जी लगाते थे; यह सोचकर मैंने कारबार की बात छेड़ी; क्योंकि मैं हरमोहनदत्त की कन्या हूं इस लिये

ऐसा नहीं है कि मैं कारबार की बात न जानती होऊं। पर मेरे किसी उपाय से भो कुछ न हुआ। तब मुझे रुलाई पर रुलाई आने लगी।

दूसरे दिन सवेरे स्नान आदि के अनन्तर जलपान कर के उन्होंने मुझे अपने पास बैठा कर कहा—

"आशा करता हूं कि जो जो बातें मैं पूछूंगा, उन सभों का सच्चा जवाब तुम दोगी।"

तब मेरे मन में रमण बाबू के साथ जिरह करने की बात याद आई। मैं ने कहा—"हां, मैं जो कुछ कहूंगी सब सच ही कहूंगी; किन्तु अभी आप की सारी बातों का जवाब न दूंगी।"

उन्हों ने पूछा—"मैं ने सुना है कि तुम्हारे पति जीते हैं। तो क्या उन का नाम गाम बतलाओगी?"

मैं—अभी नहीं; थोड़े दिन और बीतने पर।

वे—अच्छा, यह कह सकती हो कि तुम्हारे दूलह इस समय कहां हैं?

मैं—इसी कलकत्ते शहर में।

वे—(ज़रा चिहुंक कर) ऐं! तुम कलकत्ते में और तुम्हारे पति भी कलकत्ते ही में? तो फिर तुम उन के पास क्यों नहीं रहती?

मैं—उन के साथ मेरी जान पहिचान नहीं है।

पाठक! देखिये, मैं जो कुछ कह रही हूं, सो सब सच ही कहती हूं। मेरे प्राणनाथ यह उत्तर सुन चकपका कर बोले—

"स्त्री पुरुष में परिचय नहीं है! यह तो बड़े अचंभे की बात है!"

मैं—सभों की जान पहिचान क्या रहती है? क्या आप को है?

इस पर ज़रा फीके पड़ कर उन्हों ने कहा—"उस में तो कुछ दैवी दुर्घटना हो गई है।"

मैं—तो, दैवी दुर्घटना सभी जगह है।

वे—अच्छा, यह तुम कह सकती हो कि भविष्यत् में वे तुम पर किसी तरह का दावा तो न करेंगे?

मैं—यह बात मेरे हाथ है। यदि मैं उन के आगे अपना परिचय दूं, तब न जानें क्या हो, यह कौन जाने।

वे—तो तुम से सब बात खोलकर कहूं; तुम बड़ी चतुर हो, यह मैं ने जान लिया, सो तुम इस बारे में मुझे क्या सलाह देती हो?

मैं—कहिये, क्या कहते हैं?

वे—मुझे घर जाना पड़ेगा।

मैं—यह मैं समझी।

वे—घर जा कर जल्द लौटना कठिन है।

मैं—वह भी सुन चुकी हूं।

वे—तुम्हें छोड़ कर भी नहीं जा सकता। क्योंकि तुम्हें देखे बिना मैं मर जाऊंगा।

मेरा प्राण कंठ में आ रहा था, तौ भी मैं खिलखिला कर हंस पड़ी और बोली—

"हायरे, फूटे करम ! भात छीटने पर कौवे की क्या कमी है ?"

वे—किन्तु कोयल की कलक कौवे से नहीं मिटती। इस लिये मैं तुम्हें लेही जाऊंगा।

मैं—तो, मुझे रक्खेंगे, कहां ? और घरवालों से मेरा क्या परिचय देंगे ?

वे—एक भारी जूआचोरी करूंगा। इसी को कल सारे दिन विचारा है, और तुम्हारे साथ बात तक न की।

मैं—तो, क्या यह कहेंगे कि यही इंदिरा है ! रामरामदत्त के घर से खोज लाये हैं ?

वे—यह क्या ! अरे ! तुम कौन हो ?

मेरे प्राणप्यारे काठ हो दोनों आंखों की पलकें ऊपर तान कर मेरे मुंह को ओर निहारने लगे। तब मैंने पूछा, "क्यों, क्या हुआ ?"

वे—तुम ने इंदिरा का नाम क्यों कर जाना ? और मेरे मन के गुप्त अभिप्रायही को क्यों कर समझा ? तुम मनुष्य हो या कोई मायाविनी ?

मैं—इस बात का परिचय मैं पीछे दूंगी। पर अभी आप के साथ उल्टी जिरह करूंगी। आप जवाब दें।

वे—(डर कर) कहो।

मैं—उस दिन आप ने मुझ से कहा था कि "अपनी स्त्री के मिलने पर भी अब उसे ग्रहण नहीं करेंगे, क्योंकि उसे डांकू लूट

ले गये हैं; इस लिये उसे घर में लाने से जाति जायगी। " तो फिर मुझे इन्दिरा बना कर घर ले जाने में अब आप को उस बात का डर क्यों नहीं है ?

वे—अब वह डर क्यों नहीं है ? पूरा डर है। किन्तु उस दिन मेरे प्राणों पर नहीं आ पड़ी थी पर अब जान जोखों का मामिला खड़ा हो गया है। तो बतलाओ कि जाति बड़ी है या जान ? और वह भी कुछ भारी झंझट की बात नहीं है। क्योंकि इन्दिरा के जातिभ्रष्ट होने की बात कोई भी नहीं कहता। कालीदीघी में जिन लोगों ने डकैती की थी, वे सभी पकड़े गये; उन लोगों ने एकरार किया और अपने इज़हार में कहा है कि " इन्दिरा के गहने कपड़े ले कर हम लोगों ने उसे छोड़ दिया। केवल अब वह कहां है, या उस का क्या हुआ, यही बात कोई नहीं जानता " तो फिर उस के मिलने पर एक कलंकरहित कहानी अनायास ही गढ़ ली जा सकती है। मैं आशा करता हूं कि रमण बाबू जो कुछ लिख देंगे, वह इस बात की सहायता करेगा। यदि उस पर भी कोई बखेड़ा खड़ा हो तो गांव में जाति भाइयों को कुछ दक्षिणा देने ही से सारा गोलमाल ठंढा हो जायगा।

मैं—यदि वह सब झंझट दूर हो जाय तो फिर क्या है ?

वे—बस अब यदि कुछ बखेड़ा है तो तुम्हारे कारण ! सो यही कि तुम यदि जाली इन्दिरा बन कर पकड़ी जाओ !

मैं—तुम्हारे घरवालों में से कोई भी न तो असली इंदिरा को पहिचानते हैं और न मुझे चीन्हते हैं। क्योंकि केवल एक बार

लड़कपन में आप लोगों ने उसे देखा था। तो फिर मैं पकड़ी क्यों कर जाऊंगी ?

वे—बात की बात में। नये आदमी को परिचित बनाने से वह सहज ही पकड़ा जाता है।

मैं—नहीं तो आप मुझे सब बातें सिखा पढ़ा दें।

वे—यही तो मन में विचारा है। किन्तु सब बातें तो सिखाई जातीं नहीं। मान लो कि यदि कोई बात सिखलाना भूल जायं और वैसी ही कोई बात निकल आवे तब तो तुम पकड़ी जाओगी न ? और यह भी मान लो कि यदि कभी असली इन्दिरा आ पहुंचे और तब 'दोनों में असली इन्दिरा कौन है' इस बात के विचार होने के समय पहिले की बातें पूछी जाने पर तुम्हीं जाली ठहरोगी।

इस पर मैं ज़रा मुस्कुराई, क्योंकि ऐसी अवस्था में हंसी आपही आ जाती है। किन्तु अभी भी मेरे सच्चे परिचय देने का समय नहीं हुआ था, इस लिये मैं हंस कर बोली—

"सुनिये ! मुझे कोई नहीं ठग सकता। देखिये, अभी आप मुझ से पूछते थे कि तुम मनुष्य हो, या कोई मायाविनी ! सो, प्यारे ! मैं सचमुच मनुष्य नहीं हूं—(यह सुन कर प्राणनाथ कांप उठे) तो फिर मैं कौन हूं ? यह बात पीछे कहूंगी। पर अभी केवल यही कहती हूं कि मुझे कोई पकड़ नहीं सकता।"

यह सुन प्राणनाथ सन्नाटे में आगये। क्योंकि वे बुद्धिमान् थे, कामकाजी लोग थे; यदि ऐसे न होते तो इतने थोड़े दिनों में इतने रुपये क्यों कर पैदा कर लेते ? वे बाहिर से ज़रा रूखे थे—जैसे

सूखा लकड़ !—यह बात पाठकगण भलीभांति समझ गये होंगे—किन्तु भीतर के बड़े ही मीठे, बहुत ही कोमल और अत्यन्त स्नेहवान् थे;—किन्तु रमणबाबू की भांति या आज कल के छोकरों की भांति "उच्चशिक्षा" में शिक्षित नहीं थे। वे देवता पितरों को बहुत मानते थे, अनेक देशों में घूमने के कारण उन्हों ने भूत, प्रेत, डाकिनी, योगिनी, योगी, मायाविनी आदिकों की बहुतेरी कहानियां सुनी थीं, इस लिये इन सभों का वे विश्वास करते थे। वे मुझ से जैसे मोहित हुए थे, यह बात भी उन्हें इसी समय स्मरण हो आई; और जिस को वे मेरी असाधारण बुद्धि कहते थे, वह बात भी उन्हें याद आई और जो कुछ उन की समझ में अब तक न आया था, वह सब भी ध्यान में आ गया। अतएव मैं ने जो यह कहा कि—'मैं मनुष्य नहीं हूं, वरन मायाविनी हूं' इस पर उन का कुछ कुछ विश्वास हुआ। वे कुछ देर तक सन्न और भयभीत रहे, परन्तु इस के अनन्तर अपनी बुद्धि के बल से उस अंध विश्वास को अपने जी से दूर कर उन्हों ने कहा—

"अच्छा, मैं देखता हूं कि तुम कैसी मायाविनी हो। भला जो जो बातें मैं पूछता हूं, उन का जवाब दो तो सही!"

मैं—पूछिये।

वे—मेरी स्त्री का नाम इंदिरा है, यह तो तुम जानती हो। परन्तु उस के बाप का नाम क्या है?

मैं—हरमोहनदत्त।

वे—उन का घर कहां है?

मैं—महेशपुर।

वे—तुम कौन हो ?

मैं—सो तो कह चुकी हूं कि पीछे बताऊंगी। पर मैं मनुष्य नहीं हूं।

वे—तुम ने कहा था कि 'मेरा नैहर कालीदीघी है।' तो कालीदीघी के लोग यह सब बात जान भी सकते हैं। भला यह तो कहो—"हरमोहनदत्त के घर का सदर दरवाज़ा किस रुख़ का है ?"

मैं—दक्खिन मुंह का। एक बड़े फाटक के दोनों बग़ल दो बड़े बड़े सिंह बने हैं।

वे—भला, उन के कै लड़के हैं ?

मैं—एक।

वे—नाम क्या है ?

मैं—बसन्तकुमार।

वे—उन्हें बहिन कै हैं ?

मैं—आप के विवाह के समय दो थीं।

वे—नाम क्या था ?

मैं—इंदिरा और कामिनी।

वे—उन के घर के पास कोई पुष्करिणी है ?

मैं—है। उस का नाम 'देवीदीघी' है। उस में बहुत कमल होते हैं।

वे—हां, यह मैं ने देखा था। जान पड़ता है कि तुम कभी महेशपुर में रही होगी! इस में अचरज ही क्या है ? तभी तो इतना जानती हो, भला और तो कुछ वहां की बातें कहो! बतलाओ, इंदिरा के विवाह का संप्रदान कहां हुआ था ?

मैं—पूजावाले दालान के पश्चिमोत्तर के कोने में।

वे—किस ने कन्यादान किया था ?

मैं—इंदिरा के चाचा कृष्णमोहनदत्त ने।

वे—औरतों के आचार के समय किसी एक स्त्री ने बड़े ज़ोर से मेरा कान मल दिया था, उस का नाम मुझे याद है। भला, तुम बतलाओ तो सही कि उस औरत का क्या नाम है ?

मैं—उन का नाम विंध्यवासिनी ठकुरानी है। उन के बड़े बड़े नैन, लाल लाल ओठ थे और उन की नाक में उस समय लटकनदार नथ थी।

वे—ठीक है। इस से जान पड़ता है कि तुम इंदिरा के विवाह के दिन वहां पर उपस्थित थी। क्या तुम उन की नातेदार तो नहीं हो ?

मैं—मैं उन की जाति की लड़की हूं या किसी मज़दूरनी या रसोईदारिन की लड़की हूं; बस इस तरह की बातों को न पूछिये।

वे—अच्छा, इंदिरा का विवाह कब हुआ था ?

मैं—"साल के वैशाख मास की २७ वीं तारीख़ को तिथि शुक्ल पक्ष की त्रयोदशी थी।"

यह सुन कर वे चुप हो गये, फिर थोड़ी देर पीछे बोले—"अच्छा प्यारी! मुझे ज़रा तुम अभयदान करो तो मैं और दो एक बातें पूछूं ?"

मैं—मैं अभयदान करती हूं, पूछिये।

वे—कोहबर घर में से सब के उठ जाने पर मैं ने अकेले में इंदिरा से एक बात कही थी, और उस ने भी उस बात का

जवाब दिया था। भला बतलाओ तो सही कि वह कौन सी बात थी ?

इस के जवाब देने में मुझे ज़रा देर लगी। क्योंकि उस बात के याद करते करते मेरी आंखों में आंसू उमड़ने लगेथे, और मैं उन्हें रोक रही थी। उन्हों ने कहा—"बस जान पड़ता है कि इसी जगह तुम पकड़ा गई। क्यों ? चलो मेरी जान बची, क्योंकि तुम मायाविनी नहीं हो। इतने ही में मैंने अपने आंसुओं को भातर ही भीतर पीकर कहा—

"आप ने उस समय इंदिरा से यही बात पूछी थी कि—'बतलाओ तो सही कि आज तुम्हारे साथ मेरा क्या संबन्ध हुआ ?' इस पर इंदिरा ने वह जवाब दिया था कि—'आज से आप मेरे देवता हुए और मैं आप की दासी हुई।' बस, यही तो आप का एक प्रश्न हुआ, और दूसरा कौन सा है ?"

वे—और दूसरा प्रश्न करते डर लगता है। मुझे ऐसा जान पड़ता है कि मैं ने अपनी बुद्धि को खो दिया ! तौभी कहो—फूलशय्या के दिन इन्दिरा ने दिल्लगी से मुझे एक गाली दी थी और उस पर मैं ने भी उस की सज़ा की थी ; अब बतलाओ तो सही कि वे कौन सी बातें हैं ?

मैं—आप ने एक हाथ से इन्दिरा का हाथ पकड़ और दूसरा हाथ उस के गले में डालकर यह पूछा था कि—"प्यारी इंदिरा ! बतलाओ तो सही कि मैं तुम्हारा कौन हूं ?" इस का इंदिरा ने यह जवाब दिया था कि—"मैं ने सुना है कि आप मेरी ननद के दूलह हैं ?" इस पर आप ने सज़ा के तौर पर उस के गाल में

एक गुलचा लगाया, इस से जब वह कुछ उदास सी हुई तो आप ने उस का गाल चूम लिया था। अपने प्राणनाथ के आगे इतना कहते कहते मेरा सारा शरीर एक अपूर्व आनन्द के रस में गोते मारने लगा—क्योंकि मेरे जीवन में पहिला चुंबन वही था। इस के अनन्तर फिर सुभाषिणी की की हुई वह सुधावृष्टि हुई, जिस का हाल ऊपर लिख आई हूं। इन दोनों के बीच में घोरतर अनावृष्टि ही बनी रही, जिस से मेरा हृदय सरोवर सूख कर फांक फांक हो गया था।

मैं तो इन बातों को सोचती थी, और क्या देखती थी कि मेरे प्राणप्यारे ने धीरे धीरे तकिये के ऊपर अपना सिर रख कर आंखें बंद कर लीं। तब मैंने कहा—

"कहिये और कुछ पूछियेगा ?"

इस पर उन्हों ने कहा—"नहीं। बस, यातो तुम साक्षात् इंदिरा हो, या कोई मायाविनी।"

उन्नीसवां परिच्छेद।

विद्याधरी !

मैं ने देखा कि इस समय मैं अनायास ही अपना परिचय दे सकती हूं क्योंकि मेरे प्राणपति के निज मुख से ही मेरा परिचय कहा गया, किन्तु मैं ने प्रतिज्ञा की थी कि थोड़ा भी संदेह रहते हुए मैं अपना परिचय न दूंगी। इसी से कहा—

"अब मैं अपना परिचय दूंगी। सुनिये, कामरूप देश की मैं रहनेवाली हूं। मैं वहां पर आद्याशक्ति के महामन्दिर के पासही रहती हूं। लोग हमलोगों को डाकिनी कहते हैं, किन्तु हमलोग डाकिनी नहीं हैं। हमलोग विद्याधरी हैं। मैंने महामाया के आचरणों में कोई अपराध किया था, इसी से शापग्रस्त हो इस मनुष्य के चोले को पाया। सो रसोईदारी और कुलटापन भी भगवती के उस शापही के भीतर समझना चाहिये। इसी लिये यह सब भी मुझे भोगना पड़ा। अब इस शाप से छुटकारा पाने का समय मुझे प्राप्त हुआ है, मैं ने जब जगदंबा को स्तुति से प्रसन्न किया तो उन्हों ने मुझे यह आज्ञा दी कि 'महाभैरवी के दर्शन करते ही तू शाप से छुट जायगी'।"

उन्हों ने पूछा—"वह कहां पर हैं?"

मैं ने कहा—"महाभैरवी का मन्दिर महेशपुर में आप की ससुरारके उत्तर ओर है। वह ठाकुरवाड़ी आप के ससुरारवालों ही की है। घर के पिछवाड़ेवाली खिड़की से, उस मन्दिर में जाने की राह है। इस लिये अब हमलोग महेशपुर चलें।

उन्हों ने कुछ सोचकर कहा—"तो जान पड़ता है कि तुम मेरी इंदिराही होगी। अहा! कुमुदिनी यदि इंदिरा हो जाय तो फिर क्या इस सुख का पारावार है? यदि ऐसा हो तो फिर इस संसार में मेरे बराबर कौन सुखी हो सकता है?"

मैं—मैं चाहे कोई होऊं, पर महेशपुर चलने से ही सारा टंटा मिट जायगा।

वे—तो चलो, कलही यहां से यात्रा करें। मैं तुम्हें कालीदीघी पारकर, महेशपुर भेज कर अकेला अपने घर जाऊंगा। और हो

एक दिन वहां रह कर तब फिर महेशपुर आऊंगा। किन्तु मैं हाथ जोड़ कर तुम से यही भीख मांगता हूं कि, "तुम चाहे इंदिरा हो, या कुमुदिनी हो, अथवा विद्याधरी हो, पर मुझे मत त्याग करना।"

मैं—कभी नहीं। मैं अपने शाप से छुटकारा पाने पर भी भगवती की कृपा से फिर आप को पा सकूंगी। क्योंकि आप मेरे प्राण से भी बढ़ कर प्रिय हैं।

"यह बात तो डाकिनियों की सी नहीं है।" यह कह कर वे बाहर चले गये। वहां एक आदमी आये थे; आदमी और कोई न थे; खुद रमण बाबू थे। वे मेरे पति के साथ ज़नानखाने में आकर मुझे सील मुहर किया हुआ पुलिन्दा दे गये। और उन्हों ने उस पुलिन्दे के बारे में जो उपदेश मेरे पति को दिया था, मुझे भी वही उपदेश दिया। और अन्त में कहा—"सुभाषिणी से क्या कहूंगा?"

मैं ने कहा—"कहियेगा कि कल मैं महेशपुर जाऊंगी और जाते ही शाप से छुटकारा पा जाऊंगी।"

मेरे पति ने कहा—"क्या आप लोग इन सारे रहस्यों को जानते हैं?"

इस पर चतुर रमण बाबू ने कहा—"मैं तो सब रहस्य नहीं जानता, किन्तु मेरी स्त्री सुभाषिणी सब जानती है।"

फिर बाहर जाकर मेरे प्राणनाथ ने रमण बाबू से पूछा—

"क्या आप डाकिनी, योगिनी, विद्याधरी आदि का होना मानते हैं?"

रमण बाबू कुछ रहस्यभेद जान गये थे, सोई बोले—

"हां, अच्छी तरह मानते हैं। सुभाषिणी कहती है कि कुमुदिनी शापग्रस्त विद्याधरी है।"

मेरे पति ने पूछा—"कुमुदिनी क्या इंदिरा है? इस बात को ज़रा अच्छी तरह आप अपनी स्त्री से पूछियेगा।" पर यह सुन कर रमण बाबू फिर ठहरे नहीं वरन हंसते हुए चले गये।

बीसवां परिच्छेद।

विद्याधरी का अन्तधान!

इस भांति बातचीत होने पर हम दोनों जनें ठीक समय पर कलकत्ते से चले। वे मुझे कालीदीघी नामक उस निगोड़ी दीघी के पार कर के अपने घर की ओर बढ़े।

साथ के लोग मुझे महेशपुर ले गये। गांव के बाहर ही कहार और प्यादों को ठहरने के लिये कह कर मैं पांव प्यादे अकेली ही गांव के भीतर घुसी। पिता का घर सामने देख, एक सुनसान जगह में बैठ कर देर तक मैं रोई। इस के बाद घर के भीतर घुसी। सामने ही मैं ने पिता को देख कर पालागन किया। वे मुझे देख कर चीन्हते ही मारे आनन्द के ऐसे विह्वल हो गये कि इन सब बातों के यहां पर कहने का मुझे अवसर नहीं है।

मैं इतने दिनों तक कहां थी और अब क्योंकर या कहां से आई—इन बातों को मैं ने न कहा—माता पिता के पूछने पर केवल इतना ही कहा कि "पीछे" कहूंगी।

दूसरे समय मोटी बात उन लोगों को समझा दी किन्तु सब बातें न कहीं। पर यह समझा दिया कि अन्त में मैं अपने पतिही के पास रही और उन्हीं के पास से ही आ रही हूं और वे भी दो एक दिन के भीतर ही यहां आवेंगे पर सारी बातें खोल कर मैं ने कामिनी से कह सुनाईं। वह मुझ से दो बरस छोटी थी और हंसी ठट्ठे से बड़ा चाव रखती थी। उस ने कहा—"जीजी! जब कि जीजा ऐसे गोबर गणेश हैं, तो उन के साथ एक दिल्लगी की जाय तो कैसी?" मैंने कहा—"हां, मेरी भी यही इच्छा है।" तब दोनों बहिनों ने मिलकर सलाह पक्की की और सब को सिखा पढ़ा कर ठीक किया। मा बाप को भी ज़रा सिखलाना पड़ा। कामिनी ने उन दोनों को यह बात समझा दी कि "प्रकाश रीति से अभी भी जीजा ने जीजी को ग्रहण नहीं किया है सो वह यहीं होगा और हमीं लोग उस का प्रबन्ध करेंगी। तौभी जीजी की यहां आने की बात कोई जीजा के आगे प्रगट न करे।"

दूसरे दिन प्राणनाथ आये। मेरे माता पिता ने उन का बड़ा आदर सत्कार किया। मेरे आने की ख़बर उन्हों ने बाहर किसी के मुंह से न सुनी और मारे लाज के किसी से कुछ पूछा भी नहीं। जब वे भीतर जलपान करने आये तो मैं ने आड़ में से देखा कि वे बहुतही उदास हैं।

जलपान के समय मैं उन के सामने नहीं गई, कामिनी और जाति की दो चार बहिनें उन के पास बैठीं। उस समय संध्या हो चुकी थी। कामिनी तरह तरह की बातें उन से पूछने लगी और वे उनमने की भांति जवाब देने लगे। और मैं आड़ में खड़ी

खड़ी सब कुछ देखने सुनने लगी। अन्त में उन्हों ने कामिनी से पूछा—"तुम्हारी जीजी कहां है ?"

इस पर कामिनी ने एक बहुत ही लंबी सांस लेकर कहा—"क्या जानूं, कहां है! कालीदीघी पर जो सर्वनाश हुआ, उस के बाद तो फिर कोई खोज खबर नहीं मिली।"

यह सुनते ही प्राणनाथ के चेहरे का सारा रंग भ्रांवला पड़ गया। उन्होंने मुंह लटका लिया फिर उन से बोला नहीं गया। जान पड़ता है कि उन्हों ने मन ही मन यह समझा होगा कि "कुमुदिनी हाथ से निकल गई" क्योंकि उन की आंखों से आंसुओं की धारा बह निकली।

आंख के आंसू पोंछ कर उन्हों ने पूछा—

"क्या कुमुदिनी नाम की कोई स्त्री आई थी ?"

कामिनी ने कहा—"कुमुदिनी थी, या कौन थी, सो तो मैं नहीं कह सकती; किन्तु एक स्त्री परसों पालकी पर चढ़ी हुई आई थी। उस ने बराबर महाभैरवी के मन्दिर में जाकर देवी को ज्यों ही प्रणाम किया, त्योंही एक अजूबा तमाशा हो गया, अर्थात् एकाएक काली घटा के उमड़ आने से गहरा अंधेरा छा गया और आंधी पानी प्रारम्भ हुआ। वह स्त्री उसी समय त्रिशूल हाथ में लिये हुई दप्प दप्प करती हुई आकाश में उड़ गई।"

यह सुनते ही प्राणनाथ ने जलपान करने से हाथ खींच लिया। और हाथ मुंह धो माथे पर हाथ धरे देर तक वे सोचसागर में डूबे बैठे रहे। और थोड़ी देर पीछे बोले—"जहां से कुमुदिनी अन्तर्धान हुई है, वह स्थान क्या मैं देख सकता हूं ?"

कामिनी ने कहा—"हां! हां!! इस में हर्ज क्या है? ज़रा ठहरिये अंधेरा हो गया है, दीया ले आऊं।"

यह कह कर कामिनी मुझे इशारा करती हुई दिया लेने चली गई। उस ने मुझ से कहा—"आगे तुम जाओ पीछे से दीया लिये मैं जीजा को ले आऊंगी।" फिर मैं तो पहिले से मन्दिर में जाकर बरामदे में बैठ रही।

वहीं दीया रख के (यह कह आई हूं कि खिड़की से रास्ता था) कामिनी मेरे प्यारे को मेरे पास ले आई। वे आते ही मेरे पैरों तले पछाड़ खाकर गिर पड़े और पुकारने लगे—

"कुमुदिनी! कुमुदिनी!! यदि आई हो तो अब मुझे त्याग मत करना।"

दो चार बार जब उन्हों ने यही बात कही, तब कामिनी चिढ़ कर बोल उठी—

"आओ, जीजी! उठ आओ। यह मर्दुआ कुमुदिनी को चीन्हता है, तुम्हें नहीं चीन्हता!"

यह सुनते ही उन्हों ने घबड़ा कर पूछा—

"अरे! जीजी! जीजी कौन है?"

इस पर कामिनी ने झुंझला कर कहा—"मेरी जीजी! मेरी इन्दिरा!! इन्दिरा!!! क्या कभी मेरी जीजी का नाम आप ने नहीं सुना है?

यों कह कर दुष्टा कामिनी दीया बुझा और मेरा हाथ धर कर खींचती हुई ले चली। हम दोनों जनीं खूब तेज़ी से दौड़ती हुई घर में चली आईं। फिर वे कुछ होश हवास ठीक होने पर हम

दोनों के पीछे दौड़े। किन्तु एक तो अनजानी राह, दूसरे अंधेरा, सो चौकठ में ठोकर खाकर गिर पड़े। हम दोनों बहिनें पास ही थीं, सो दोनों जनी ने दो ओर से उन का हाथ थाम्ह कर उठाया। कामिनी ने उन्हें सुना कर धीरे धीरे कहा—"हम लोग विद्याधरी हैं, तुम्हारी रक्षा के लिये तुम्हारे पीछे लगी डोलती हैं।"

यह कह कर उन्हें खींचती हुई अपने शयनमन्दिर में ला बैठाया। वहां दीया बलता था, सो उंजाले में उन्हों ने हम दोनों को देख कर कहा—"यह क्या? यह तो कामिनी और कुमुदिनी है!" इस पर कामिनी मारे क्रोध के दस टूक हो कर बोली—"हाय रे! अभाग्य! क्या ऐसी ही समझ से रुपये पैदा किये थे? क्या हल जोतते हो? यह कुमुदिनी नहीं है; इन्दिरा है! इन्दिरा!! इन्दिरा!!! आप की अर्द्धांगिनी! अपनी दुलहिन को भी नहीं पहिचानते? छिः! छिः!!"

तब मेरे प्राणेश्वर ने मारे आनन्द के अज्ञान हो मुझे गोदी में खींच लेने के बदले कामिनी को गोद में खींच लिया और कामिनी उन के गाल में एक तमाचा लगा कर हंसती हुई वहां से चल दी।

उस दिन के आनन्द की बात मेरे कहे कही नहीं जाती। घर में खूब धूम धाम मच गई। उसी रात को कामिनी में और उ० बाबू में कम से कम सौ बार वाग्युद्ध हुआ, पर हर बार प्राणनाथ ही हारे।

इक्कीसवां परिच्छेद।

उस समय जैसी रही !

कालीदीघी की डकैती के बाद मेरे करम में जो कुछ बदा या बीता था, उस का सारा हाल इस समय प्राणप्यारे ने मुझ से सुना। रमणबाबू और सुभाषिणी ने जैसा षड्यन्त्र रच कर उन्हें कलकत्ते बुलाया था, यह भी उन्हों ने सुना। इस पर वे कुछ गुस्से भी हुए और बोले—"मुझे इतना घुमाने फिराने से प्रयोजन क्या था?" इस पर—'क्या प्रयोजन था' सो भी मैं ने प्राणनाथ को समझा दिया। उसे सुन वे सन्तुष्ट हुए, किन्तु कामिनी सन्तुष्ट न हुई और बोली—"जीजी ने तुम्हें डार डार पात पात नहीं नचाया यही इस का दोष है। इस पर आप ने टिर्र क्या बघारी कि 'अब उस स्त्री को ग्रहण न करेंगे।' अरे, मर्दुये! जब कि हम लोगों के मिहंदी महावर से रंगे हुए श्रीपादपद्म के बिना आप के सात पुरुषों की भी गति मुक्ति नहीं है, तो फिर इतनी बड़ी शेखी क्यों बघारते हैं?"

इस बार उ० बाबू ने एक भरपूर जवाब जड़ दिया, कहा—"तब पहिचाना नहीं न था? अरे! तुम लोगों को पहिचानना किस की मजाल है?"

कामिनी ने कहा—"विधाता ने आप के लिलार में यह लिखा ही नहीं है कि पहिचान सकें। क्या रासलीला के इस चौबोले को आप ने नहीं सुना है?—

कहा धूमरी ने, मनमोहन !
तुम्हैं कौन पहिचानै ?
हम सब जमना को रेतो को,
हरी घास को जानैं ॥
खोजूं तुमरे चरन-चिन्ह को,
सुन वंशी अभिराम।
गऊ, भला क्या जानैं, ध्वज—
वज्रांकुश कमल ललाम ॥"

पर मैं तो उस समय हंसी न रोक सकी और उ० बाबू ने उदास हो कर कामिनो से कहा,—

"रहो, बीबी ! अब बहुत न जलाओ। तुम ने रास का नाच नाचा, इस के इनाम में यह पान का बोड़ा लो।"

कामिनी ने कहा—"ऐ ! जीजी ! देखती हूं कि जोजा में कुछ समझदारा भी है, ये निरे गोबरगणेश ही नहीं हैं।"

मैं—तुम ने इन में कौन सी समझदारी की बात देखी ?

कामिनी—देखो न, जोजा ने चौघड़ा खोल बोड़ा तो मुझे दिया और पत्ता खुद खा लिया ! यह समझदारी नहीं तो क्या है ? इस लिये जीजी ! तुम एक काम करो; कभी कभी इन से अपने पैर दबवाया करो, इस से इन के हाथ में सफाई आ जायगी।

मैं—मैं क्या इन्हें अपना पैर छुला सकती हूं ? ये तो मेरे देवता हैं।

कामिनो—ये देवता कब से हुए ? पति यदि देवता होता हो, तो ये अब तक तुम्हारे आगे उपदेवता क्यों बने रहे ?

मैं—ऐवता ये तब हुए हैं जब इन को विद्याधरी अन्तर्धान हो गई।

कामिनी—अहा हा! ये विद्या को धरते धरते भी न धर सके। इस लिये हे जीजा! देखो तुम्हारी जैसी विद्या है, उस से धर पकड़ न करना ही अच्छा समझा; क्योंकि वही विद्या बड़ी विद्या है, जो धरी न जाय।

मैं—कामिनी! तैं ने बात बहुत बढ़ाई, सो कहीं अंत में चोरी चमारी तक इन के गले मत मढ़ दीजियो।

कामिनी—इस में मेरा क्या अपराध है? जब जीजाजी कमिसेरियेट का काम करते थे, तब इन्हों ने अवश्य चोरी की है। और रही चमारी—तो जब ये रसद का इन्तज़ाम करते होंगे, तब इन्हों ने चमारी भी अवश्य ही की होगी।

उ० बाबू ने कहा—हां, री! छोकड़ी बके जा—'अमृतं बालभाषितम्।'

कामिनी—हां, इसी से तो जब आप विद्याधरी को शासितम् तभी बुद्धि नाशितम्—अच्छा मैं जायितं क्योंकि मा मुझे पुकारितं।

सचमुच मा पुकारती थीं।

कामिनी मा के पास जाकर तुरत लौट आई और बोली—"जाना आप ने कि क्यों मा ने पुकारितम्? आप अभी दो चार दिन रहतम्-और यदि न रहतम्, तो मैं ज़बर्दस्ती राखितम्।"

इस समय हम दोनों ने एक दूसरे के मुंह की ओर निहारा, इस पर कामिनी ने कहा—"आपस में ताका ताकी क्यों करितम्?"

उ० बाबू-ज़रा विचारितम्।

कामिनी-घर जाकर विचारितम्। अभी यहां दो चार दिन रह कर खातं, पीतं, हंसतं, खेलतं, सोतं, जागतं, लोटतं, पोटतं, हिलतं, डोलतं, नाचतं, कूदतं, गातं, बजातं।

उ० बाबू ने कहा-कामिनी! तुम नाचोगी?

कामिनी--दुर! मैं क्यों नाचूं? पर मैंने एक ऐसी ज़ंजीर ख़रीद रक्खी है कि जिस में बांध कर आप को नचाऊंगी।

उ०बाबू-मुझे तो—जब से मैं यहां आया हूं-बराबर नचाही रही हो; और कितना नचाओगी? इस लिये आज ज़रा तुम्हीं नाचो।

कामिनी—तो मेरे नाचने से रहेंगे न?

उ०बाबू—हां, रहूंगा।

कुछ कामिनी के नाच देखने की लालच से नहीं, केवल मेरे मातापिता के अनुरोध से उ० बाबू और एक दिन रहने के लिये राज़ी हुए। वह दिन भी बड़ेही आनन्द से बीता। महल्ले की झुंड की झुंड स्त्रियों ने आ आकर संध्या के बाद मेरे प्राणनाथ को घेर कर मजलिस जमायी। उस समय उस बड़े भारी घर के एक कोने वाली कोठड़ी में उन स्त्रियों की मजलिस जमी।

कितनी स्त्रियां आईं, इस की गिनती न रही। अनगिनतिन गोल मटोल मुखड़े के भ्रमर तारे वाले नैन पांति जोड़ कर स्वच्छ सरोवर में मतवाली मछलियों की तरह खेलने लगे; कितनेही गेंड़ुरी मारे हुई सांपिनी के सदृश काले काले केशगुच्छ वर्षा के दिनों की वनलता की भांति घूम घूम और फूल फूल कर झूमने लगे; मानों कालीदमन के समय काली नागिनों के गोल

छितरा कर यमुनाजल में तैर रहे हों; कितनेही कानों के करनफूल, झूमके, पत्ते, बाली, बाले, लटकन, इयररिंग आदि मेघ की गोद में बिजली की भांति मेघ के समान केशगुच्छ के भीतर ही से चकाचौंध करने लगे; कितने ही रंगीले ओंठों के भीतर से कितनीही मोती की लरी सरीखी दंतपंक्ति में से और कितनेही सुगन्धित ताम्बूल के चबाने के समय कितनी ही भांति की अधरलोभा की तरंगें उठने लगीं, कितनी ही प्रौढ़ाओं की नथों के फंदे में फंस कर भगवान् कामदेव ने अपनी तीरंदाजी से जवाब देकर छुटकारा पाया; कितनीही अलंकारराशि से विभूषित गोल मटोल बाहु के हिलाने डुलाने पर हवा से हिलाई हुई फूली लता से भरे पूरे उद्यान की भांति वह घर एक अलौकिक चंचल शोभा से शोभित होनेलगा। झनरझनर, रुनझुन की झनकारों से भौंरों के गूंजने का सा आनन्द मिलने लगा। कितनीही बंदी बेने की चमचमाहट, हारों की बहार, चन्द्रहारों की चांदनी, छड़ों से छबीले चरणों की झनझन, फैल रही थीं। कितनी ही बनारसी, मिर्ज़ापुरी, बालूचरी, ढाकेवाली, शांतिपुरी, सिमला और फरास-डांगा की रेशमी, सूती, मर्मसूती, रंगीन, रंगामेज़, छींटेदार, बांधनू कोर की मिहीं—धूरकपूर आदि साड़ियां, किसी की घूंघट, किसी की आधी घूंघट, किसी की आड़ी घूंघट, किसी की चोटी तक, किसी के जूड़ेही मात्र को छुए हुए थीं और कोई उतना भी भूल गई थी।

मेरे प्राणनाथ बहुतेरी गोरी पल्टनों को फ़तह कर के रुपये कमा लाये थे—बहुतेरे कर्नल और जनरल आदि की समझदारी पर

पत्थर डाल कर भरपूर नफ़ा घर ले आये थे—किन्तु इन सुंदरियों की पल्टन देखकर वे पीले पड़ गये और डर भी गये। वहां पर तोप की आग की जगह नयनवह्नि की चिनगारी, उस (तोप) के भयानक धूमसमूहों के बदले इन को करालगेंडुरी मारे हुई यह केशकादंबिनी, बायोनेट के स्थान में ये अलंकारों की रुनझुन; विजयवाद्य के परिवर्तन में मिहंदी महावर से रंगे हुए पैरों के छड़ों की झनकार; बस जिस आदमी ने चिलियानवाला देखा है, इसे देख कर उस की भी सांसें रुक जातीं। इस भयानक रणभूमि में अपनी रक्षा करने के लिये उन्हों ने मुझे दर्वाजे पर देख कर इशारे से अपने पास बुलाया, किन्तु मैं ने भी सिक्ख सेनापति की भांति उस समय उन के साथ विश्वासघात किया और इस रण में उन की रत्ती भर सहायता नहीं की।

बात यह है कि ऐसी ऐसी मजलिसों में बहुतेरी बातें निर्लज्जता की होती हैं, यह मैं जानती थी। इसी लिये कामिनी और मैं उस समय उन के साथ न गई—बाहरही हम दोनों जनी रहीं। बार बार मैं दर्वाज़े पर से उझक उझक कर भीतर झांकती थी। यदि कोई यह कहे कि "जिस मजलिस में निर्लज्जता की बातें होती हैं, उस का वर्णन तुम क्यों करना चाहती हो?" इस पर मैं यही जवाब दिया चाहती हूं कि "मैं हिन्दू की लड़की हूं, इस लिये मेरी समझ से ये सब बातें निर्लज्जता की हैं; किन्तु आजकल अंग्रेज़ी चाल अधिक पसंद है,—तो अंग्रेज़ी चाल के अनुसार विचार करने से इस में कुछ भी निर्लज्जता की गंध न पाई जायगी।"

मैं कह आई हूं कि कामिनी और मैं रह रह कर झांका करती थी। मैं ने देखा कि महल्ले की यमुना ठकुराइन सभापती होकर अकड़ कर बैठी हैं। उन का वयस पैंतालीस से भी ढल चुका था, रंग भी उन का सांवला था, दोनों आखें भी छोटी छोटी थीं, पर ढुरढुर थीं, अधरोष्ठ दोनों मोटे मोटे थे, पर रसभरे थे। उन के गहने कपड़े की सजावट में—पैरों में महावर की बहार, काले पर लाल रंग—मानों यमुना में ही जवाकुसुम! और माथे पर उड़े खुड़े बालों की बहार, उन के शरीर का व्यास और परिधि देख कर मेरे प्यारे उन्हें "नदी स्वरूप महिषी" कह कर छेड़छाड़ करते थे। ब्रजवासी लोग यमुना नदी को कृष्ण की नदी-रूप महिषी कहते हैं, उसी कथा पर लक्ष्य कर के उ० बाबू ने यह दिल्लगी निकाली थी। यद्यपि मेरी यमुना जीजी अभी तक मथुरा नहीं गई थीं, और न इस कथा की ही कोई खोज खबर रखती थीं और महिषी शब्द का अर्थ भी नहीं जानती थीं, सो उन्हों ने महिषी के अर्थ से केवल मोटी भैंस का ही मतलब समझा और जानवर के साथ अपने शरीर की समता सुन कर वे मारे क्रोध के कांपने लगीं। इस बात का बदला लेने के लिये उन्हों ने मेरे प्यारे के सामने मुझे घुमा फिरा कर "गाय" कहा; ठीक इसी समय मैं ने दर्वाजे से मुंह बढ़ा कर पूछा—

"यमुना जीजी! क्या है?"

यमुना ने कहा—"एक गौ है जी!"

मैं ने पूछा—"कैसी गाय?"

इस पर मेरे पीछे से कामिनी बोल उठी—

"चिल्लाते चिल्लाते जमुना जीजी का गला सूख गया है सो ज़रा थन चूसेंगी।"

इस पर हंसी की चोट से सभापत्नी महाशया घायल हो गईं और कामिनी के ऊपर गरम होकर कहने लगीं—"एँ! तू कल की छोकड़ी होकर सब से ठट्ठा करेगी?"

कामिनी ने कहा—"इस लिये कि यहां पर और कोई तुम्हें भूसी खली की सानी देनेवाला नहीं है।" इतना कह कर कामिनी भाग गई और मैं भी वहां से चंपत हुई।

फिर एक बार जाकर झांका और देखा कि महल्ले की बड़ी जीजी प्यारी बीबी—जाति की वैद्य—उमर पैंसठ बरस की—उस में पचीस बरस रंडापे में ही गये—वह सारे अंग में गहने और घांघरा पहिर कर राधिका बन कर आई हैं और मेरे प्यारे की ओर देख कर "कृष्ण कहां हैं? कृष्ण कहां हैं?" टेरती हुई उसी कामिनी-कुंजवन में टहल रही हैं। उन से मैं ने पूछा—"बड़ी जीजी! क्या खोज रही हो?"

उन्हों ने कहा—"अपने कृष्ण को ढूंढ़ती हूं।"

कामिनी बोल उठी—"तो ग्वाले के घर जाओ—वह कायस्थ का मकान है।"

चुहलबाज़ी में चतुर बड़ी जीजी बोलीं—"मेरे कृष्ण कायस्थ के घर में ही मिलेंगे।"

कामिनी बोली—"क्यों बड़ी जीजी! क्या सभी जाति के लोगों ने अपनी जाति दे दी है?"

आज कल एक तेली के साथ प्यारी बीबी की बदनामी फैल रही थी, सो इस जवाब के पाते ही वे बिना तेल आग केही जल उठीं और कामिनी पर व्यंग के बहाने गाली देने लगीं। तब मैं ने उन्हें रोकने के लिये यमुना जीजी को दिखला कर कहा—"खफ़ा क्यों होती हो? तुम्हारे कृष्ण इस यमुना में कूद गये हैं। इसलिये आओ हम तुम 'पुलिन' पर खड़ी हो कर ज़रा रोवें!"

यमुनाजीजी "महिषी" शब्द के अर्थ समझने में जैसी पंडिता थीं "पुलिन" शब्द के अर्थ का भी उन्हें वैसा ही ज्ञान था। इस लिये उन्हों ने सोचा कि "यह छोकड़ी शायद किसी पुलिनबिहारी को लगा कर मेरे कलंक रहित सतीत्व में (कलंक रहित उन के रूप के कारण) किसी तरह का धब्बा लगाने की इच्छा से व्यंग बोलती है। यह सोच वह कड़क कर बोलीं—

"इस के भीतर पुलिन कौन है जी?"

इस पर मुझे भी ज़रा रंग चढ़ाने की इच्छा हुई, सोई मैं बोली—"जिस के तन पर लोट पोट होकर यमुना रात दिन तरंग भंग करती हैं, उसी को वृन्दाबन में 'पुलिन' कहते हैं!"

अरे! अबकी बार 'तरंगभंग' ने तो सर्वनाश ही कर डाला। यमुना ने समझा तो खाक पत्थर भी नहीं और गुस्से से भभक कर कहा—

"चल, दूर हो; मैं तेरे तरंग फरंग को नहीं जानती, न तेरे पुलिन को पहिचानती और न तेरे बेंदाबन को ही चीन्हती हूं, जान पड़ता है कि तू इतने रंगरस के नाम डाकू के यहां से सीख आई है।"

उसी मजलिस में 'रंगमयी' नाम की एक मेरे बराबरवाली सखी थी। उस ने कहा—

"इतनी चिढ़ती क्यों हो यमुना जीजी ! नदी के दियर (चक्र) को पुलिन कहते हैं। तो क्या तुम्हारे भी दोनों ओर दियर हैं ?"

चञ्चला नाम की यमुना की एक भौजाई घूंघट काढ़े यमुना के पीछे बैठी थी, उस ने घूंघट के भीतर ही से मीठे स्वर से कहा—

"दियर रहता, तो भी जान बचती ! ज़रा खुलासे तौर से कुछ देख सुन सकती, पर अब तो केवल काले पानी की कालिंदी कलकल कर रही है।"

कामिनी ने कहा—"अरे ! तुम लोग मेरी यमुना जीजी को यों बीच दियर में क्यों छोड़ रही हो ?"

चंचला बोली—"इन की बलाय छूटे ! भला मैं ननदजी को नदी के चक्र (दियर) में क्यों छोड़ूंगी ? इन के भाई का पैर थाम्ह कर कहूंगी कि जिस में इन्हें चौक मसान में फेंकें।"

रंगमयी ने कहा—"क्यों बहू ! इन दोनों में क्या फरक़ है ?"

चंचला ने कहा—" मसान में स्यार कुत्तों का भला होगा—और चक्र (चर, दियर) में गौ, भैंस चरती हैं सो उन सभों की क्या भलाई होगी ? (भैंस शब्द कहने के समय बहू ने ज़रा घूंघट खोल कर ननद की ओर मुस्कुरा कर कटाक्ष किया था)।

यमुना बोलीं "ले हज़ार बार वही बात अच्छी नहीं लगती। जिसे भैंस अच्छी लगे, वही हज़ार बार भैंस भैंस किया करे।"

इन बातों पर प्यारी जीजी ने कान नहीं दिया था, उन्हों ने पूछा—"भैंस की बात कैसी ?"

कामिनी बोली—"किसी देश में तेलियों के घर भैंस कोल्हू चलाती है, यह उसी की बात हो रही है।"

यह कह कर कामिनी भागी। बार बार यमुना जीजी को तेलीवाली बात की याद दिलाना अच्छा नहीं हुआ-किन्तु कामिनी ख़राब औरतों को देख नहीं सकती थी। इस पर प्यारी बीबी मारे गुस्से के अंधी हो और फिर कुछ न बोल कर उ० बाबू के पास जा बैठीं। तब मैंने कामिनी को पुकार कर कहा कि—"कामिनी! अरी! देखरी! इस बार प्यारी ने कृष्ण को पा लिया।"

कामिनी ने दूरही से कहा—"बहुतेरे दिन गुप्त मिलाप हो चुका है।"

इस के बाद एक गुल शोर सुनाई दिया। अपने प्राणनाथ की आवाज़ मैंने सुनी-वे एक आदमी के ऊपर डांट डपट कर रहे थे, जिसे देखने हम दोनों बहिनें गईं; देखा कि एक डाढ़ीवाला मुग़ल घर के भीतर घुस आया है और उ० बाबू उसे निकाल बाहर करने के लिये बकझक कर रहे हैं। तब कामिनी ने दर्वाजे, पर से ही पुकार कर कहा—

"जीजाजी! क्या आप के शरीर में ज़ोर नहीं है ?"

उ० बाबू ने कहा—"नहीं क्यों है ?"

कामिनी बोली—"तो मुग़ल निगोड़े को गर्दनियां देकर निकाल बाहर क्यों नहीं करते ?"

इतना कहते ही मुग़ल सांस रोक कर भागा, भागने के समय मैं ने उस की दाढ़ी पकड़ी, जिस से नक़ली दाढ़ी अलग हो गई; तब मुग़ल ने कहा-" मौत है, और क्या ? भला तू ऐसे उल्लू भतार के साथ कैसे घर बसावेगी ? " यह कह कर वह भाग गया और मैं ने दाढ़ी को लोका कर यमुना जीजी की भेट की। ड० बाबू ने पूछा—" यह क्या माज़रा है ? "

तब कामिनी बोली—" माज़रा और क्या है ? ज़रा आप इस दाढ़ी को लगा कर चारों पांव से बन में घास चरना प्रारम्भ करें !

ड० बाबू ने कहा—" क्या यह नक़ली मुग़ल था ? "

कामिनी—" किस की मजाल है, जो ऐसी बात कहे ! श्रीमती अनंग मोहिनी दासी क्या नक़ली मुग़ल हो सकती हैं ? यह असल दिल्ली की आमदनी है। "

इस पर एक हंसी का तूफ़ान उठ खड़ा हुआ। मैं ज़रा मन में उदास हो, वहां से फिरी आती थी, इतनेही में महल्ले की व्रज-सुंदरी दासी एक फटे पुराने कपड़े पहिरे एक लड़का गोद में लिये हुई ड० बाबू के पास जाकर अपना दुखड़ा रोने लगी कि—" मैं ऐसी ग़रीबिन हूं कि खाने को नहीं मिलता और न इस बच्चे को पोस पाल सकती हूं।" यह सुन ड० बाबू ने उसे कुछ दिया। हम दोनों बहिनें दर्वाजे के दोनों ओर खड़ी थीं, सो ज्योंही वह भिखमंगिन दर्वाजे से बाहर निकलने लगी, त्योंही कामिनी ने उस से कहा—" अरी ! भिखारिन ! यह तो तू जानती होगी कि बड़े

आदमियों के यहां से कुछ भीख मिलने पर दरवानों को भी उस में से कुछ घूस देनी पड़ती है!"

व्रजसुंदरी बोली—दरवान कौन है?

कामिनी—हम दोनों जनी।

व्रजसुंदरी—कितना हिस्सा चाहती हो?

कामिनी—तुम ने पाया क्या है?

व्रजसुंदरी—दस रुपये।

कामिनी—तो हम दोनों को आठ आठ रुपये के हिसाब से सोलह रुपये देती जाओ।

व्रजसुन्दरी—यह आमदनी तो बहुत बढ़ियां है!

कामिनी—देखो, बड़े आदमी के यहां की भीख में नफ़ा नुकसान की ओर ख़याल करने से कैसे काम चलेगा? इस लिये कभी कभी कुछ घर से भी देना पड़ता है।

व्रजसुंदरी बीबी अमीर आदमी की स्त्री थीं, सो झट से उन्हों ने सोलह रुपये टेंट से निकाल कर हम दोनों को दिये। हम दोनों ने वेही सोलह रुपये यमुना जाजी को देकर कहा—"लो, तुम सब इन रुपयों की मिठाई खाना।"

मेरे प्राणनाथ ने कहा—"यह क्या बात है?"

इतने में व्रजसुन्दरी बीबी लड़के को बिदा कर और बनारसी साड़ी पहिर कर आ बैठीं। उन के आते ही फिर एक हंसी का तूफ़ान उठ खड़ा हुआ।

ब० बाबू ने कहा—क्या यह आंसुओं का तमाशा है?

यमुना ने कहा—" और नहीं तो क्या है? देखते नहीं कि कोई काली दमन की नक़ल कर रहा है, कोई कलंक भंजन की और कोई माथुर-मिलन की; तथा कोई भागने की नक़ल कर रहा है।"

उ० बाबू—केवल भागने की नक़ल कौन करता है?

यमुना—यही तुम्हारी कामिनी! यह केवल भागने की ही नक़ल कर रही है।

पहिले कामिनी ने बात बात में सभों को कुढ़ाया था, सोई फिर अतर, पान, लायची, गजरे आदि देकर सभों को संतुष्ट करने लगी। तब सभों ने मिलकर उसे घेर लिया और कहा—"क्यों, बीबी! तुम बहुत भागी भागी फिरती थी—अब?"

कामनी—भागूं क्यों नहीं? क्या मैं तुम लोगों से डरती नहीं हूं?

उ० बाबू ने कहा—क्यों, बीबी कामिनी! तुम्हारे साथ क्या एकरार हुआ था?

कामिनी—कैसा, एकरार जीजा?

उ० बाबू—तुम ने नाचने कहा था न?

कामिनी—मैं तो नाच चुकी।

उ० बाबू—कब नाची?

कामिनी—दो पहर के समय।

उ० बाबू—कहां नाची?

कामिनी—अपने घर के भीतर, दर्वाज़ा बंद कर के।

उ० बाबू—किस ने देखा?

कामिनी—किसी ने भी नहीं।

उ० बाबू—क्या यही करार था?

कामिनी—और नहीं तो क्या यह करार था कि मैं तुम्हारे आगे पेशवाज़ पहिर कर नाचूंगी? केवल मैंने नाचने की प्रतिज्ञा की थी, सो नाच चुकी। सो मैंने अपनी बात पूरी करली, किन्तु तुम लोगों ने जो न देखा, यह तुम लोगों के भाग्य का दोष है। अच्छा मैंने जो जंज़ीर ख़रीदी है, अब उस का क्या किया जाय?

कामिनी तो नाच की झंझट से निकल गई, पर मेरे प्राणनाथ गाने के लिये धरे गये। मजलिस की ओर से उन पर हुक्म हुआ कि "तुम को गाना होगा।" मेरे प्यारे ने पश्चिमोत्तर देश में रीतिपूर्वक गान विद्या सीखी थी, सो उन्हों ने उस समय सनदी ख़्याल गाया, पर उसे सुन कर उस अप्सरामंडली ने हंस दिया और फ़र्मायश की कि 'बिरहा' गाओ। परन्तु मेरे प्यारे बिरहा गाना क्या जानें, इस लिये परियां उन पर खुश नहीं हुईं।

इसी भांति आधी रात का समय ढल चला। यह परिच्छेद न लिखने से भी काम चल सकता था, तो भी मैं समझती हूं कि इस देश के गांव गवईं की स्त्रियों के जीवन का यह भाग (अंश) अब लोप हुआ जाता है। यदि हुआ या हुआ जाता है तो अच्छा ही है, क्योंकि इस के साथ अश्लीलता, निर्लज्जता और कभी कभी दुर्नीति भी आकर मिल जाया करती थी। किन्तु जो लोप हो गया है, उस का एक चित्र खींच देने की इच्छा सेही यह परिच्छेद लिखा गया। तो भी यह बात मुझे प्रतीत होती है कि अनेक जगहों में यह कुरीति लोप नहीं ही हुई होगी। यदि ऐसा है, तो

जो लोग जमाई देखने के लिये अपनी घरवालियों को जाने देने से नहीं रोकते, उन के ज़रा आंख कान खोल देना ही इस परिच्छेद के लिखने का असली मतलब है। और इसी लिये मैंने "मारी माछ न छूई पानी" की कहावत के अनुसार संकेत कर दिया।

बाईसवां परिच्छेद।

उपसंहार।

दूसरे दिन मैं अपने पति के साथ पालकी पर सवार हो ससुरार गई। प्राणनाथ के साथ जाती थी, यह तो सुख की बात थी ही, किन्तु उस बार जो जाती थी, उस का सुख ही कुछ और था। उस बार जिस सुख को कभी पाया ही नहीं, उसी के पाने की लालसा से जाती थी; और अब की जिसे पाया है उसे आंचल में बांध कर लिये जाती थी। इन दोनों सुखों में, एक कवि का काव्य और दूसरा धनी का धन है। तो क्या धनी का धन कवि के काव्य के समान हो सकता है? कभी नहीं; क्योंकि जो धन पैदा करते करते बूढ़े हो गये हैं और काव्य नहीं जानते वे भी ऐसा नहीं कहते। वे लोग कहते हैं कि फूल जब तक पेड़ में लगा रहता है, तभी तक वह सुंदर है, तोड़ने पर फिर वह वैसा सुंदर नहीं रह सकता। स्वप्न जैसा सुखद है, क्या उस 'स्वप्न' की सफलता भी उतनी ही सुखदायिनी है? आकाश जैसे सचमुच नीला नहीं है, पर हमलोग उसे नीला सरीखा देखते हैं; बस धन भी ऐसा

है; अर्थात् धन सुखद नहीं है, पर हमलोग उसे सुखदायी मानते हैं। यदि विश्व में कोई यथार्थ सुखद वस्तु है तो वह कवि का काव्य है ; क्योंकि काव्य आशा है और धन भोगमात्र है; सो भी सब के भाग्य में नहीं, क्योंकि बहुतेरे धनी आजन्म अपने ख़ज़ाने के केवल पहरेदार ही रहते हैं। मेरे एक सम्बन्धी ऐसे लोगों को—"ट्रेज़री गार्ड" * कहते हैं।

तौभी सुख में समाई हुई मैं ससुरार चली। अबकी बार वहां राज़ी खुशी से पहुंच गई। मेरे प्राणप्यारे ने मेरे विषय की सारी बातें बिस्तार से पिता माता के आगे कह सुनाईं। फिर रमण बाबू का पुलिंदा खोला गया। उस की लिखावट के साथ मेरी सारी बातें मिलगईं। तब तो मेरे सास ससुर बड़े प्रसन्न हुए। और समाज के लोग भी सारा हाल जान कर फिर कुछ न बोले।

तब मैं ने सारा हाल बिस्तार से लिख कर सुभाषिणी को एक चिट्ठी लिखी। उस (सुभा०) के लिये सदा मेरा प्राण घबराया करता था। मेरे प्राणनाथ ने मेरे कहने से रमण बाबू के पास हारानी के लिये पांच सौ रुपये भेजदिये। सुभाषिणी ने तुरतही मेरी चिट्ठी का जवाब भेजा। उत्तर आनंद से भरपूर था। वह पत्र सुभाषिणी के प्राण प्यारे र० बाबू के हाथ का लिखा हुआ था, किन्तु बात उस की सब सुभाषिणी ही की थी, यह बात चिट्ठी की लिखावट से ही जान पड़ी। उस ने सभों का वृत्तान्त लिखा था। उन सब में से दो एक वृत्तान्त मैं नीचे लिख देती हूं—

* खजाने के रक्षक। अनुवादक।

"हारानी पहिले किसी तरह रुपये नहीं लेती थी, कहती कि, "मेरी लालच बढ़ जायगी। मानलो कि यह काम मैं ने अच्छा किया, किन्तु ऐसे २ काम तो बुरे ही होते हैं। तो फिर लालच में पड़कर यदि मैं बुरे काम ही करने लगू ?" इस पर मैं ने इस मुंहझौंसी को समझाया कि, "मेरी झाड़ू के न खाने से क्या तू यह काम कभी करती ? क्या हर बार ही तू मेरे हाथ से झाड़ू की चोट खा सकती है ? बुरे काम की बेला भी क्या मैं तुझे वैसे ही बातों ही से झड़ुवाऊंगी ? उस समय क्या दस गालियां भी न सुनेगी ? तूने अच्छा काम किया था, इसलिये उस की बख्शिश ले।" इसी भांति बहुत समझाने बुझाने पर उस ने रुपये लिये हैं। अब वह भांति भांति के दान पुण्य का 'सूचीपत्र' तैयार कर रही है। जब तक तुम्हारे इस खुशी की खबर उस ने नहीं सुनी थी, तब तक उस की हंसी न जाने कहां बिला गई थी ; पर अब उस की हंसी के तूफ़ान से घर वाले घबरा गये हैं।"

रसोईदारिन मिसराइन के बारे में सुभाषिणी ने यह लिखा कि—"जब से तुम अपने पति के साथ चुपचाप चली गई, तब से बराबर वह ढड्ढो बड़ा उछला करती और कहा करती थी कि—मैं शुरू से जानती थी कि यह औरत बड़ी ख़राब है इस की चाल चलन ख़राब है और यह भी बराबर कहती थी कि ऐसी छिनाल औरत को तुम लोग अपने यहां न रक्खो; पर मुझ ग़रीब की सच्ची बात पर कौन ध्यान दे ? और ध्यान देना दूर रहा, सारे घर के लोग कुमुदिनी कुमुदिनी कहते पागल हुए जाते थे !—इसी भांति वह और भी न जाने क्या क्या ख़ाक पत्थर बका करती थी। इस के बाद जब उस ने सुना कि तुम और किसी के साथ न जा-

कर अपने ही पति के साथ गई हो और तुम बड़े आदमी की बेटी और अमीर ही की पतोह भी हो, और अपना घर बर पाकर चैन करती हो, तब उस ढड्ढो ने क्या कहा कि—मैं तो बराबर यही कहती थी कि वह बड़े घराने की लड़की है, क्योंकि छोटे घर में क्या ऐसे सादे स्वभाव की सुशील लड़की होती है? अहा! इस का जैसा ही रूप, वैसा ही इस में गुण भी है, मानो साक्षात् आदमी है! वह बड़ी भली है; अच्छा बिचारी जीती रहे, दूधन नहाय, पूतन फले। हां जी! रानीबहू! उसे लिखना कि भला कुछ मेरे लिये भी तो भेज दे।"

मालकिनी (स्याही के बोतल) के बारे में सुभाषिणी ने यह लिखा—"तुम्हारे यह सब हाल को सुन कर उन्हों ने अपना आनन्द प्रगट किया है। किन्तु मुझे और र० बाबू को कुछ झिड़का भी है। उन्हों ने कहा कि—'वह जो इतने बड़े आदमी की लड़की थी तो यह बात तुम दोनों ने मुझ से पहिले क्यों न कही? मैं उसे बड़े आदर से रखती।' इस के बाद तुम्हारे प्राणनाथ की भी मेरी सास ने निंदा कीऔर कहा—माना कि उन की जोरू थी, पर मेरी ऐसी सुन्दर रसोंईदारिन को ले गये, यह उन्हों ने अच्छा न किया।"

मालिक रामराम दत्त की बात खुद सुभाषिणी के हाथ की चीलबिलार अक्षरों मे लिखी हुई थी, जिसे बड़ी कठिनाई से मैंने पढ़ा। उसमें यह लिखा था कि—"मालिक ने मालकिनी को बनावटी गुस्से से फटकार सुना कर कहा था कि 'तुम्हीं ने छल प्रपंच खेल कर ऐसी सुन्दर रसोईदारिन को निकाल बाहर कर दिया है।' इस पर मालकिनी ने कहा—'मैं ने बहुत अच्छा किया,

जो उसे बिदा कर दिया ; तुम क्या सुन्दरी को ले कर धो धो कर पीओगे !' मालिक ने कहा—'अब क्या हम कहें ! अब इस काले रूप का ध्यान तो रात दिन नहीं किया जाता।' यह सुनते ही मालकिनी ने खाट पकड़ी और उस दिन खाट से नीचे पैर न रक्खा। मालिक ने जो इन्हें चिढ़ाया था सो इन्हों ने कुछ भी नहीं समझा।''

इस के तो कहने की कोई आवश्यकता नहीं कि फिर मैं ने मिसराइन और सभी दाई नौकरों के लिये कुछ कुछ भेज दिया।

इसके बाद फिर एक बार सुभाषिणी से मेरी भेंट हुई थी। उस की बेटी के ब्याह के समय उसके बड़े आग्रह करने पर मेरे प्राणनाथ मुझे उसके यहां ले गये थे। मैं ने उसकी लड़की को गहनों से संवारा—मालकिनी को कुछ योग्य भेंट दी-और जो जिसके योग्य था, उसे वैसा इनाम दिया; किन्तु देखा कि मालकिनी मेरे और मेरे पति के ऊपर अप्रसन्न हैं। उन्हों ने मुझ से यह बात कई बार समझा कर कही कि, मेरे बेटे (र० बाबू) का भोजन अच्छी तरह नहीं होता। मैं ने भी रमण बाबू को कुछ बना कर खिलाया। फिर मैं कभी सुभाषिणी के घर नहीं गई; कुछ रसोई के डर से नहीं, बरन मालकिनी के दुःखित होने के डर से।

बहुत दिन हुए मालकिनी और रामरामदत्त स्वर्ग को सिधार गये। किन्तु फिर मैं वहां जा न सकी। तथापि मैं सुभाषिणी को भूली नहीं और न कभी इस जन्म में भूलूंगी। क्योंकि उसके समान मैंने इस संसार में और कुछ न देखा॥

॥ शुभम्॥

Rarely, rarely, comest thou,
Spirit of Delight !
Wherefore hast thou left me now
Many a day and night ?
Many a weary night and day !
'Tis since thou art fled away.

How shall ever one like me
Win thee back again ?
With the joyous and the free
Thou wilt scoff at pain.
Spirit false ! thou hast forgot
All but those who need thee not.

* * * *

Let me set my mournful ditty
To a merry measure ;—
Thou wilt never come for pity,
Thou wilt come for pleasure.

* * * *

Thou art love and life ! O come !
Make once more my heart thy home !

Shelley.

कबहूं कबहूं तू आइजात,
    एरी ! आत्मा ! आनन्द-जात !
मोहि सम्प्रति छोड्यो कौन दोस ?
    अनगिनतिन जामें रैन-द्योस !
जब तें पराइ, तू गई, हाय !
    मम रैन द्योस बीतैं थकाय।
हे मानिनि ! मानव मों समान,
    मिलिहै, तोहि या जगमाहिं आन ?
स्वाधीन अनन्दित मनुज संग,
    दुख हू पैं तू हंसि करत व्यंग।
हे आत्मा ! भूली, सबहिं हाय !
    नहिं चहत तोहि जे, तिन सिवाय।
*   *   *   *
निज खेद-गर्भ जे गान आहिं,
    मेलन दै, मनद्रव राग माहिं,—
आइहि नहिं केहि ढिग सहित हेत,
    पै, आइहि तू, यदि उमंग चेत।
*   *   *   *
आजा, तू प्रेमऽरु प्रान मोरि !
    निज करिय गेहया हिय बहोरि।'

(शेली)

श्रीहरिश्चन्द्रकला

प्रथम भाग नाटकावली	(१६ नाटक) ३)
द्वितीय भाग इतिहास	(१२ ग्रन्थ) २)
तृतीय भाग—सच्ची राजभक्ति	(७ ग्रन्थ) १)
चतुर्थ भाग—भक्तरहस्य	(१८ ग्रन्थ) ४)
पंचम भाग काव्य	(१७ ग्रन्थ) ४)
छठे भाग के ३२ नं०	१६)
रामायणपरिचर्यापरिशिष्टप्रकाश अर्थात् महात्मा हरिहरप्रसाद जी महाराजा बनारस तथा काष्ठजिह्वा स्वामी कृत रामायण की टीका	१०)
मानसभावप्रकाश--भाई संतसिंह ज्ञानी कृत रामायण की टीका	१०)
सटीक कवित्तरामायण और हनुमान बाहुक	१)

प्रियप्रवास।

खड़ी बोली में अनुप्रास रहित छन्दों में

स्वनामधन्य पं० अयोध्या सिंह उपाध्याय विरचित

पहला महाकाव्य।

हिन्दी में अपने विषय का पहला ग्रन्थ है। विषय की मनो-रता, कविता का माधुर्य और सौन्दर्य्य, छन्दों का लालित्य, ब्दों की सरसता एवम् भाव चित्त को मुग्ध करते हैं। बम्बई त्तर, विलायती सुन्दर चिकना काग़ज़, सुनहली जिल्द, साफ़ पाई देखतेही बन पड़ती है। दाम केवल १॥) डाक व्यय अलग।

मैनेजर "खड्गविलास" प्रेस—बांकीपुर।